प्रकाशक
सुमेरमल कोठारी
२०, मल्लिक स्ट्रीट
कलकत्ता-७

मुद्रक
परमानन्द पोद्दार
युनाइटेड कमर्शियल प्रेस लि०
१, राजा गुरुदास स्ट्रीट
कलकत्ता-६

श्री वीराय नम.

भगवान श्री महावीर

॥ गुरुदेवाय नमः ॥
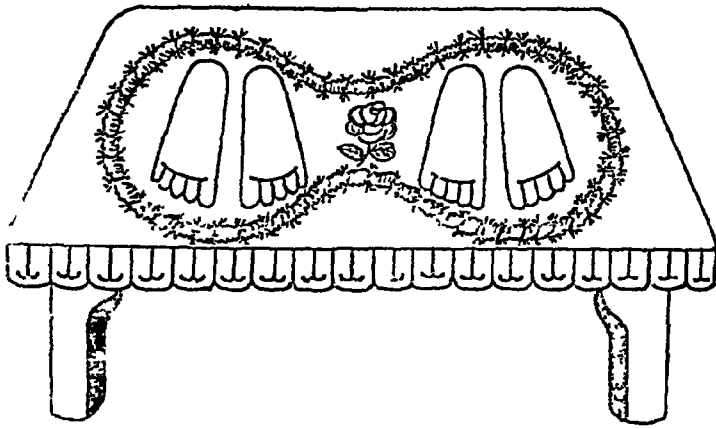
दादा साहब श्री जिनदत्त सूरिजी—कुशल सूरिजी

श्रद्धा के इन क्षुद्र सुमनो को श्री चरणों में
समर्पित करने के अतिरिक्त अकिंचन
के पास और है ही क्या ?
इन्हें स्वीकार करें।

अनुक्रमणिका

पूर्वार्द्ध

विषय | पृष्ठांक

विषय | पृष्ठांक

स्वामी श्री भीखणजी द्वारा चर्चित प्रश्नोत्तरों की समीक्षा

उत्तरार्द्ध

समाज का महत्व एवं सुधार के साधन

विषय	पृष्ठांक
मन की साधना में मूर्त्ति का सहयोग	१५४
साधना के अन्य उपाय	१५८
पूजा का अवलम्बन	१५८
अन्य उपायो से तुलना	१६०
उद्देश्य की भिन्नता	१६७
मूर्ति-रचना की विशेषता	१७१
पूजा में उपयोग	१७२
पुरुषार्थ ही प्रधान	१७३
श्रद्धा की विशेषता	१७५
जीवन-चरित्र का ज्ञान	१७६
स्तवन, स्तुति, पूजा आदि की विशेषता	१७६
पूजा में द्रव्य की उपयोगिता	१८०
पूजा का स्वास्थ्य से सम्बन्ध	१८०
पूजा में उपयोग और विवेक	१८०
भाइयो से बर्ताव	१८३
अपना आतरिक ध्यान	१८६
लाभ के अन्य उपाय	१८८
कषायो का निवारण	१९३
सुव्यवस्था	१९९
स्वाभाविक मतभेद	१९९
विषय मनन का है	
रस-सरोवर	
जिन चरणों में आत्म-समर्पण	२०१

दो शब्द

अनन्त सुखो को देने वाला 'मनुष्य-भव' जहाँ एक ओर अत्यन्त महत्वपूर्ण है, वहाँ दूसरी ओर खतरनाक भी कम नहीं। धोखे में आ जांय तो अनन्त दु खों में ढकेलते भी यह देर नहीं करता। ऐसी स्थिति में नीर-क्षीर-विवेकी वन कर ही हम इसे सार्थक वना सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तिका में नवीनता कुछ भी नहीं है। मूर्ति के उपयोग से सरलता पूर्वक मन को, परम पुरुषो के चरण-चिह्नो का अनुगामी वनने के लिए, कैसे प्रेरित और प्रभावित किया जा सकता है, इसी सम्वन्ध में गुरुजनो द्वारा व्यक्त उपदेशों का यह आकलन मात्र है। साथ ही ऐसे उप-योग को तथ्य शून्य, निर्वल, अनुचित या हिंसा पूर्ण बतलाने वाले मत-मतान्तरो की मात्र सत्य के सरक्षण में आलोचना अवश्य है, किन्तु है सप्रमाण एव युक्ति-युक्त। साधारण पाठक भी इसमें अवगाहन कर सत्यासत्य का निर्णय करने में समर्थ हो सकता है।

यो तो तेरापंथी भाई, जो स्थानकवासी भाइयो के ही कटे-छंटे, निखरे हुए नवीन रूप हैं, इस तरह की गलत मान्यता फैलाने में कम जिम्मेवार नहीं, पर वस्तुत समाज में यह मिथ्यात्व उत्पन्न करने का सम्पूर्ण श्रेय स्थानकवासी

भाइयों को ही है। उनके आचार्यों ने जब मूर्ति-पूजा में जल, फूल, फल आदि द्रव्यों के प्रयोग को हिंसायुक्त बतलाया तो उन अनुकर्ताओं की सरल समझ में यह आना स्वाभाविक था कि अरिहंत भगवान् की भक्ति द्वारा परम उत्कृष्ट चारित्र-उत्थान जैसे निर्मल हेतु में ऐसे द्रव्यों का उपयोग यदि हिंसा पूर्ण है, तब अन्य स्थानों पर भी चाहे वे गुरुओं की भक्ति से मिलने वाले लाभ के निमित्त काम में लिए गये हों, चाहे धर्म प्राप्ति के अन्य साधनों के निमित्त काम में लिए गये हों, चाहे अपने जीवन को स्थिर रखने के निमित्त काम में लिए गये हों और चाहे अन्य जीवों की प्रति-रक्षा या प्रतिपालना से मिलने वाले लाभ के निमित्त काम में लिए गये हों; निश्चय ही हिंसायुक्त होंगे। विष तो हर जगह विष ही रहता है।

इसी मिथ्या दृष्टि ने समस्त तथ्यों को तोड़-मरोड डाला और विचारों और व्यवहारों में एक भयानक विषमता उत्पन्न कर दी। हमारा तो अब भी निवेदन है कि वे तथ्य को समझें और जैन परंपरा की निर्मल मान्यता और व्यवहारो को संसार के सामने यथारूप रखें ताकि कोई भी व्यक्ति भ्रम-वश उन्हें मिथ्या या अनुपयुक्त समझ उचित लाभ से वचित न रहे और न हमारे नादान मतभेदों के कारण जैन दर्शन ससार के लोगों की दृष्टि में उपहास का कारण बने।

समय थोड़ा है। हमें मनुष्य-भव से लाभ उठाना है। अपने अमूल्य समय को व्यर्थ नष्ट न कर, निरन्तर आगे बढ़ना ही हमारे लिए अधिक श्रेयस्कर है।

मैंने अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसमें भाषा दोष, कटुता, कटाक्ष, व्यंग्य, अन्योक्ति, कम जानकारी

के कारण त्रुटियाँ अथवा कमियाँ अवश्य रही हैं पर जहाँ तक मेरे हृदय की भावना का प्रश्न है, भिन्न प्रकार की मान्यता रखने वालों या अन्य किसी भी भाई को नीचा दिखलाने अथवा जी दुखाने के लिए मैंने यह प्रयत्न नहीं किया है। केवल तथ्यातथ्य का विचार कर गुणानुरागी बनने के लिए विनती करना ही मेरा मुख्य ध्येय रहा है।

पडित देवचन्द्रजी, परम योगीराज आनन्दघनजी, उपाध्याय यशोविजयजी प्रभृति महान् तत्त्ववेत्ताओ को, जो इस पुस्तिका के आधार स्तम्भ हैं, भाव पूर्वक वन्दन करता हुआ मैं सभी धर्मानुरागी बन्धुओ से आदर सहित विनय करूंगा कि थोडा समय निकाल वे इसे पढने की अवश्य कृपा करें।

पुस्तिका की भाषा-शुद्धि, लालित्य-वृद्धि एव स्थल २ पर व्यर्थ के कलेवर एवं कटुता में कटौती लाने में मेरे माननीय भूपराजजी जैन एम० ए० ने जो प्रशंसनीय सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

विज्ञ जनो से विनम्र विनती है कि वे इसमें सुधार की अवश्य राय दें। उनका सुझाव सहृदयता पूर्वक स्वीकार किया जायेगा।

मूर्ति का उपयोग यदि आपको रुचिकर लगा और उसकी महत्ता में आपकी धारणा अधिक दृढ़ बनी तो मैं अपने इस लघु प्रयास को अवश्य सार्थक समझूगा।

अन्त में,—किसी भाई को किसी कारण, मेरे इस प्रयत्न से ठेस लगी हो या कमी खटकी हो तो—मैं मन, वचन, काया से क्षमा-याचना करता हुआ, आशा करता हूँ कि स्नेह पूर्वक वे मुझे क्षमा कर देंगे।

—लेखक

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनू
को सप्रेम भेंट –

ऐतिहासिक तथ्य

इतिहास का सजीव अंग :—हम जैनो के तीर्थ और मदिर जो सम्पूर्ण भारत में फैले हुए हैं, हमारी पुरानी सभ्यता के प्रतीक हैं। हमारे पूर्वज कला के कितने मर्मज्ञ, कितने उच्च आदर्श वाले, कितने न्यायी, कितने शान्ति प्रिय और गुरुजनो के प्रति कितने श्रद्धालु थे, यह इन तीर्थों के विशाल वक्ष स्थल पर पूर्णतया अकित है। अतीत में अज्ञानी तत्वो के कोप, विधर्मी सत्ताधारियो की कठोर दुधारी तलवार, समय-समय पर आनेवाले प्राकृतिक प्रकोप और इनसे भी वढकर हमसे ही अलग हुए मतभेदी भाइयो का खडखड कर देनेवाला घातक खडनवाद; जैसे अनेक कठोर आघातो को अनुपम सयम और दृढता पूर्वक सहते हुए इन तीर्थराजो ने अत्यन्त भीषण अग्नि परीक्षा दी है। सौभाग्य की वात है कि आज भी ये उच्च मस्तक हमारे वीच विद्यमान है और सूर्य के समान चमक रहे हैं।

धार्मिक भावना के रक्षक-प्रेरक—सावधानी पूर्वक अवलोकन से

पता चलता है कि ये केवल जिनराज भगवान के ऐतिहासिक चिह्न मात्र ही नहीं हैं वरन् इससे भी आगे ये हमारे हृदय कमल में परमात्मा के प्रति प्रगाढ श्रद्धा पैदा करने वाले एव अजैनो में जैनत्व का महत्व-पूर्ण प्रचार करने वाले पुनीत स्तम्भ भी है। आप जानते हैं कि अनेक दुर्गम स्थानो में जहाँ हमारे भाई अनेक पीढियो से रह रहे हैं और जहाँ मुनिराजो के आवागमन के साथ-साथ धर्म के अन्य साधन भी अवरुद्ध हैं, केवल इन्ही की कृपा से वहाँ जैनत्व की रक्षा हुई है। कहाँ गुजरात, कहाँ आसाम और कहाँ कन्या कुमारी अन्तरीप, इनकी विशाल भुजाओमें जैनत्व का दीपक जगमगा रहा है ।

आज जहाँ हमारे धर्म प्रचारक मुनि महाराज विलायत या अमेरिका नहीं जा सकते, इस साधन द्वारा वहाँ भी, हम चाहे तो वह कार्य कर सकते है जिसका अनुमान नही लगाया जा सकता। प्रचार के साधन धर्मग्रन्थ भी पढ़े-लिखे मनुष्यो की रुचि और अवकाश की ही वस्तु हैं, परन्तु मन्दिर तो पास से गुजरने वाले प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ी देर के लिये अपनी तरफ खीच ही लेता है। इतने पर भी दु:ख का विषय तो यह है कि अत्यन्त निर्मल उद्देश्य होते हुए भी दूसरे देशो में इनका प्रचार करना तो दूर रहा, हमारे अपने ही देश में, अपने ही लक्ष २ भाई, विरोधी बन इनसे दूर जा बैठे।

विरोधी भावों का विस्तार :—किसी कारणवश मतभेद फैला और वह धीरे-२ बढ़ता ही गया। जो स्थिति है वह हमारे सामने है। दोष किसको दें ? सभी समान रूप से दोषी हैं। एक समझ न सका तो दूसरा समझा न सका। अब अमूर्ति पूजक दलों में सम्मिलित हुए भाइयो के लिए पूजा और दर्शन करने या न करने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता परन्तु आज मूर्ति-पूजकोमें भी दिन प्रति-दिन इस ओर से रुचि कम होती जा रही है और थोड़े से पूजा इत्यादि करने वालो में भी बहुतो को पूजा का वास्तविक महत्व ही मालूम नही है। इसका मुख्य कारण यही है कि शिक्षा के अभाव में हमारा इस दिशा का ज्ञान अपूर्ण एवं अपरिपक्व है।

मूर्ति का तो विषय ही भिन्न है। उसमें न शब्द है, न उच्चारण, न व्याकरण है, न लिपि। वह तो संकेत मात्र ही करती है जिसको अनुभव प्राप्त व्यक्ति ही समझ सकता है। ऐसी परिस्थिति में हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने पूर्वजो के अपार परिश्रम और धन-राशि से खडी की गई इस कला-पूर्ण वस्तु का उचित ज्ञान प्राप्त करे और उससे उचित लाभ उठावें ।

शंका-समाधान

किसी लाभ की आशा नही

भ्रान्ति वहुवा हानि का वडा भारी कारण वन जाती है। यही हाल मूर्ति-पूजा का हुआ। कई एक भ्रान्तिआँ तो स्वाभाविक पैदा हुई और कई एक वाद में अपनी मान्यता की पुष्टि एव प्रचार के लिए गढ ली गई। भ्रान्ति चाहे जैसी हो एवं चाहे जिस तरह से पैदा हुई हो, हमें उस पर पूरी सहृदयता पूर्वक विचार करते हुए तथ्यातथ्यको ठीक से समझना है ताकि भविष्य में और अधिक हानि न हो।

किसी लाभ की आशा नहीं :—कहा जाता है कि मूर्ति तो जड पदार्थ है। जड को चेतन के समान समझना सरासर भूल है। जड मूर्ति में असली वस्तु सी समता कहाँ सम्भव ? यदि यह सम्भव हो तो पत्थरके बीज उगाने से उग आते; पत्थर की बनी गाय, गाय की तरह दूध देती, पत्थर के बने फलों के आहार से क्षुधा शान्त हो जाती और पत्थरके फूलो से सुगन्ध महक उठती। जब हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि इनमें ऐसी पूर्ति कतई नही होती और कोई लाभ नहीं मिलता तो पत्थरकी बनी भगवान की मूर्ति से भी हम किसी लाभ की आशा नही कर सकते।

पत्थर की बनी गाय और वास्तविक गाय में कितना भारी अन्तर है उसे हम सब अच्छी तरह जानते है। पत्थर की गाय दूध नही देती, घास नही खाती, रम्भाती नही, चलती-फिरती नही, बीमार नही पडती और मरती भी नही। इस तरह हम देखते हैं कि गाय में और गाय की मूर्ति में काफी असमानता भरी पड़ी है। किन्तु उनमें समानता कौन सी है, यही चिन्तनीय है।

पत्थर के टुकड़े को गाय क्यो कहा:—पत्थर के टुकडे को गाय क्यो कहा ? भेड़, बकरी, भैंस या भालू तो नही कहा ? पत्थरके और भी हजारो टुकडे देखते है, उन्हें तो गाय नही कहते ? निश्चय, यह उसके आकार-प्रकार का प्रभाव है। कलाकार ने उस पत्थर में एक ऐसी सजीदगी पैदा कर दी कि वुद्धिमान व्यक्ति को भी उसे

गाय शब्द से सम्बोधित करने के लिए बाध्य होना पड़ा ? इससे भी आगे अधिक महत्व की बात तो यह है कि—"आकार प्राप्त इस पत्थर के टुकडे ने कुछ क्षणों के लिए सम्पूर्ण ससार से हमारे ध्यान को हटाकर केवल गाय पर ही केन्द्रित कर दिया।" यह मूर्ति की महान् विशेषता है ! यही असली रहस्य है !! प्रत्येक मूर्ति हमारे मस्तिष्क पर अपना-अपना असर करती है।

मुख्य रहस्य :—असली वस्तु की याद आते ही उसके गुण-दोष तो स्वतः हमारे मस्तिष्क में टकराने लगते हैं। उन गुण-दोषो से ओत-प्रोत होना या न होना हमारी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है पर एक बार तो हमारा ध्यान उस ओर चला ही जाता है। तथ्य यही है कि गाय की मूर्ति को देखकर गाय की विशेष रूप से याद हो आती है। उसकी उपयोगिता पर भी ध्यान जाता है और उसके सम्बन्ध में कई तरह के विचार उत्पन्न होते हैं। ऐसा होता है या नही इसका निर्णय तो हम स्वय ही कर सकते हैं। शंका में जो भी कमी महसूस की गई है वह 'द्रव्य वस्तुओ की प्राप्ति" की ही कमी है। द्रव्यो की प्राप्ति तो मूर्ति से सम्भव नही परन्तु मूल वस्तु के गुण-दोषो के स्मरण का मन के साथ गहरा सम्बन्ध है। "द्रव्य वस्तुओ की अप्राप्ति" को प्रधान लक्ष्य के रूप में आगे रख कर, वस्तु के स्वरूप को विशेष रूप से याद दिलाने वाली मूर्तिकला के महान् महत्व को न समझना ही अपने विवेक की कमी है।

महान् सहारा :—अध्यात्मवाद मे तो मूर्ति का सहारा सोने में सुगन्ध के समान है। भगवान की मूर्ति तो हमारे लिए और भी अधिक उपयोगी है। सोचिये, ध्यान दशा में रहे खुद भगवान को यदि हम वन्दन, नमस्कार करते तो हमें क्या लाभ होता? ऐसी अवस्था में न तो वे वाणी सुनाते, न आहार इत्यादि लेकर ही हमे कृतार्थ करते और न अन्य किसी द्रव्य वस्तु की प्राप्ति ही हमें उनसे होती। उस समय तो वे मूर्तिवत् ही होते। उस अवस्था में जो भी लाभ हमें होता, वही लाभ उनकी मूर्ति को भावयुक्त वन्दन-नमस्कार कर प्राप्त किया जा सकता है। भावना चाहे ध्यानस्थ भगवान के सामने उपार्जित की जाय अथवा उनकी मूर्ति के सामने, दोनों अवस्थाओं में हितकारी ही है। संभव है एक अवस्था से दूसरी अवस्था की भिन्नता के कारण हमारे भावो की तीव्रता में अन्तर रह जाय पर परिणाम दोनो जगह समान ही होगा। मन भर सोना न मिले, रत्ती भर ही सही, सोना सोना ही होगा। आज जब ससार में भगवान वर्तमान नहीं

हैं, उनकी मूर्ति द्वारा उनके गुणो का स्वल्प आभास भी हमें मिले तो क्या बुरा है ? भगवान की सौम्य मूर्ति का अवलोकन कर हमें उनकी शान्त एवं वैराग्यमय वृत्ति, उनकी प्रकाण्ड तपस्या, उनकी महान् क्षमा प्रगाढ रूप से स्मरण हो आती हैं। थोडी देर के लिए सारे झझटो को भूल कर उनके अनन्त गुणो में हम लीन हो जाते हैं और उन्ही गुणो को आत्मा में जगाने में बडी प्रेरणा मिलती है। मूर्ति का यह प्रभाव क्या कम है ? इससे अधिक और हम मूर्ति से क्या चाहते हैं ?

उपयोगिता :—मूर्ति हमें परम लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत सहायता पहुँचा सकती है यदि हम उसकी वास्तविक उपयोगिता को समझ कर उसे काम में लें। उपयोगिता न समझना ही इस तरह की शका का मूल कारण है।

द्रव्यों का प्रयोग सरासर-'हिंसा'

शका का एक बहुत बडा कारण जो हमारे अनेक भाइयो के मनो में घर कर गया है और जिसके कारण वे मूर्ति से अत्यधिक घृणा करते है, वह है— "पूजा में द्रव्यो का प्रयोग।" ऐसे प्रयोगो को वे हिंसा युक्त, निरर्थक और बालको की गुडियो का खेल समझते हैं।

शका करने वालो को शका हो सकती है। यदि हमारी विचारधारा ठीक है तो हमें उसका कारण सहित उत्तर देना चाहिए जिससे उनको पूर्ण सतोष हो और बुरा मानने की जगह उन्हें अपनी भूल महसूस हो।

पूजन का ध्येय :—प्रत्येक कार्य के पीछे एक ध्येय रहता है। मूर्ति स्थापित करने में भी एक ध्येय है, और वह है—"चचल मन को; जो स्वभाव ही से विषयासक्त और कामी है, शुद्ध गुणो की ओर प्रेरित किया जा सके।" चंचल मन की गति किसी से छिपी नही है। इसलिए महापुरुषो ने साधारण व्यक्तियों के लिए कुछ ऐसे अवलम्बनो की विशेष आवश्यकता समझी, जिनके सहारे इस चचल मन* को यत् किंचित् सुधार कर सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त किया जा सके।

मूर्ति-पूजा के व्यवहार से चचल मन को कुछ २ परमात्मा के शुद्ध गुणों में

---

* जैसे—महाराज आनन्दघनजी भगवान कुथुनाथ स्वामी की स्तुति में फरमाते है—

बीजी वातें समरथ छै नर, एहने कोई नु झेले"
हो कुंथुजिन, मनड़ु किम ही न वाजे—

अभ्यस्त किया जा सके, महापुरुषो की तो यही निर्मल भावना रही है। इसके सहारे पहले परमात्मा में बहुमान और अनुराग बढता है, फिर धीरे-२ मनुष्य उनके शुद्ध गुणो मे ओत-प्रोत हो विषयो से हटने लगता है। इस रुचिकर अवलम्बन से; रुचि न रखने वालो अथवा बहुत कम रुचि रखने वालो मे भी, शुद्ध गुणो मे रुचि उत्पन्न हो जाती है और मनुष्य सत्पथगामी बन जाता है। अधिक क्या कहा जाय, पूजा के प्रत्येक अग-प्रत्यग को इसी आलोक मे अच्छी तरह परखा जा सकता है। इसमे कही भी अनुचित स्वार्थ अथवा विषयो का हेतु लेश मात्र भी नही है।

न तो परमात्मा को इसमे कुछ लेना देना है और न हमें ही इसमें किसी द्रव्य वस्तु की प्राप्ति होती है। अनुराग पूर्वक परमात्मा के गुणो का अनुमोदन करते हुए उन्ही गुणो को अपनी आत्मा मे जगाना ही सब समय हमारा ध्येय रहता है।

कई कह सकते है कि "अच्छे भाव तो दर्शन मात्र से पैदा हो सकते है, अनुमोदन हो सकता है फिर इतनी द्रव्य सामग्रीसे पूजा-पाठ की क्या आवश्यकता?"

सभी मनुष्यो को लाभ पहुँच सके ऐसे सभी प्रकार के साधन, जहाँ तक बन सके रखने की ही कोशिश की जाती है। बिना मूर्ति के सहारे ही यदि किसी महानुभाव के उत्तम भाव जागृत हो जाते हो तो द्रव्यो से पूजा-पाठ की बात दूर, उनके लिए मूर्ति का सहारा भी न लेना उचित हो सकता है और भगवान के नाम की माला जपनी भी अनावश्यक हो सकती है, परन्तु जिनकी शक्ति इतनी सबल नही, वे उनकी बराबरी कैसे करे? अपनी-२ शक्ति के अनुसार, सहारे की अपेक्षा सबको रहती है। अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों के लिए निर्णय करना उचित नही। यदि इतना हम समझ लेते तो आज आपस में, मतभेदो की यह स्थिति उत्पन्न ही नही होती। भगवान के उत्तम गुणो को आत्मा मे जगाने के निर्मल उद्देश्य को ध्यान में रख; जरूरत समझें तो हम किसी का सहारा ले, जरूरत न समझें तो न ले परन्तु जो सहारा लेना चाहते हैं, उसे भी न्याय-दृष्टि से समझे; यही उचित एवं स्पृहणीय है।

शक्ति समान नहीं :—पूजा के हेतु को भी हमे गहराई से समझना चाहिए। अनेक इससे लाभान्वित होते है या नही इसे भी हमे देखना चाहिए। एम० ए० पढे हुए मनुष्य के लिए "क माने ककड़ी" की रट निरर्थक हो सकती है पर नव शिक्षार्थी बालक के लिए तो शिक्षा ग्रहण का एक प्रभावशाली उपाय है।

ठीक इसी प्रकार हम अपने आपको कितना भी दक्ष एव प्रवुद्ध क्यो न समझते हों पर जव हम अपने चचल मनकी चचलताको तौलते हैं तो यही अनुभव करते हैं कि आत्मसयम की दृष्टिसे तो अभी हम निरे वालक ही हैं। इसलिए द्रव्यो द्वारा पूजा इत्यादि हम जैसे लोगो के मनो में परमात्मा में अनुराग उत्पन्न कराने का एक वडा सहारा है और मन से कपाय और विपयो को हटाने का एक प्रभावशाली उपाय हैं। तत्वज्ञानी पुरुपो को यदि हमारी यह क्रिया "वाल क्रिया" ही लगे तो भी उन्हें प्रसन्नता ही होनी चाहिए, यही सोच-कर कि खेल ही खेल में उनके वालको में भविष्य के लिए अच्छे सस्कार तो जम रहे हैं। पूजा में परमात्मा को लक्ष्य में रख कर ही वन्दना की जाती है, जय वोली-जाती है और वहुमान किया जाता है। इससे परमात्मा में अटूट अनुराग उत्पन्न होता है जो हमारे लिए महत्वपूर्ण प्राप्ति है। धीरे-२ अभ्यास से आत्मा स्वत उनके शुद्ध गुणो में रमण करने लगती है। द्रव्य-पूजन की यही महान् उपयोगिता है।

हिंसा का स्वरूप :— पूजा में द्रव्यो के प्रयोग को इसलिए अनुचित मानना कि यह तो प्रत्यक्ष हिंसा है, सरासर हिंसा के स्वरूप को न समझना ही है। विना सोचे समझे "हिंसा है, हिंसा है" के अनर्गल प्रलाप से अपने भाइयो में भ्रम पैदा कर उन्हें जैनत्व से परे ढकेलना अपने पैरो पर आप कुल्हाडी मारने जैसी भूल है। तत्वज्ञ पुरुपो से निवेदन है कि वे इस पर निष्पक्षता पूर्वक विचार करें।

द्रव्य-प्रयोग अनिवार्य :— मूर्ति - पूजा में पदार्थों का प्रयोग अवश्य किया जाता है पर उन्ही का जिनको हम सभी अपने जीवन निर्वाह में वरावर प्रयुक्त करते हैं। यहाँ तक कि मुनिराजो का भी जीवन निर्वाह, इन्ही पदार्थों पर ही निर्भर है, जो पूर्ण अहिंसक माने जाते है। मकान, जल, फूल, फल, दूध, मिठाई इत्यादि सभी पदार्थ हम सभी के जीवन में वरावर काम में आने वाले पदार्थ हैं। इन पदार्थो के अभाव मे क्या किसी महानुभाव का जीवन सम्भव है? सम्भव है कोई कम द्रव्यो से काम चला लेता हो और किसी को अधिक काम में लेने पडते हो परन्तु अधिक द्रव्यो को काम में लेने वाला, कम द्रव्यो से उतना ही कार्य करने वाले की तुलना में, वुरा नही कहा जा सकता, भले ही कमजोर कहा जाय। जैसे आहार करने वाले मुनिराज को, तुलना में तपस्वी मुनिराज को विशेप मानते हुए भी, वुरा नही मान सकते। द्रव्यो के अभाव में हम एक कदम भी आगे नही वढ सकते।

त्रस जीवों की "हिंसा - अहिंसा" :—एक स्त्री अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अपना प्राणान्त कर देती है और दूसरी अपने प्रेमी के न मिलने के वियोग मे अपना जीवन त्याग देती है। स्थूल दृष्टि से दोनो जगह प्राण-हानि समान है पर भाव दृष्टि से पहली प्राणहानि अहिंसा है और अनुकरणीय है क्योकि वहाँ चारित्र्य की रक्षा है, और दूसरी पूर्ण हिंसा है। यह त्याज्य है क्योकि वह विषय-वासना से परिपूर्ण है। एक माता ने, बच्चे को भूल से एक औषधि के बदले दूसरी औषधि जो पास ही पडी हुई थी, दे दी और बच्चे का प्राणान्त हो गया। एक अन्य स्त्री कामातुर हो, अपने कार्य में बाधक समझ अपने ही बच्चे की हत्या कर देती है। प्राण-हानि की दृष्टि से शिशुओं का प्राणान्त एक समान है पर पहली प्राण-हानि हिंसा नही कही जा सकती। जहाँ दूसरी महान् हिंसा और घोर पातक है। वहाँ पहली प्राण-हानि का, हिंसा न होने पर भी, अनुमोदन नही किया जा सकता क्योकि वह एक भूल है, जिसको करने का कर्त्ता को भी बड़ा भारी पश्चाताप है। जैन-दर्शन का यह निर्णय वस्तुतः अनुपम है। चारित्र्य रक्षा के लिए हुई प्राण-हानि पूर्ण-अहिंसा, अनुकरणीय एव अनुमोदनीय। भूलसे हुई प्राण हानि स्वीकारोक्ति से क्षम्य। बुरे हेतु से हुई प्राण-हानि पूर्ण हिंसा और महान् पापों का उदय।

साध्वी के चारित्र्य की रक्षा :—किसी साध्वी जी महाराज के चारित्र्य को भ्रष्ट करने वाले दुष्ट के प्रयास को विफल करने की चेष्टा में उसका प्राणान्त हो गया तो ऐसी प्राण हानि को क्या समझें? क्या यह हिंसा है ? यदि यह हिंसा और पाप है तो साध्वीजी को बचाना कभी उचित नही कहा जा सकता। यदि बचाना उचित है जैसा कि हम बराबर मानते हैं तो हमें दिल खोल कर कहना चाहिए—साध्वीजी महाराज को बचाना "परम धर्म, परम अहिंसा।" वास्तव मे जैनी इसे 'हिंसा' नही कह सकता क्योंकि उसका उद्देश्य किसी को मारने का नही, अपितु एक मात्र चारित्र्य-रक्षा है।

देश की रक्षा :—देश पर हमला होता है। क्या घर में बैठकर अहिंसा का जाप करें ? क्या दुष्टो का सामना करना हिंसक कृत्य समझें ? क्या प्राण-हानि से डर कर उनको अपने सत्व पर चोट करने दें ? नही ! कभी नही !! जैनी तो यही सोचेगा कि अपने चारित्र्य या चारित्र्य उदय के साधनो की हर संभव उपाय से रक्षा की जाय। यदि ऐसा नही किया जाता है तो उसका

अर्थ है—अपने मुनिराजो को घानी में पिलवाना, अपने अमूल्य शास्त्र-भडारो को जलवाना, अपने स्वाध्याय पोषक धार्मिक स्थानो को तुड़वाना और अपने भाइयो को विधर्मी बननेकी मजबूरी में गिरने देना। यह कृत्य चारित्र्य की हानि ही नही प्रत्युत भीषण हिंसा का उदय है। इसलिए जैनी बचाव के लिए खून की आखिरी बूंद को भी बहा देना उचित समझता है। देश को बचाना, चारित्र्य मार्ग को बचाना है। सारांश यह कि चारित्र्य रक्षा के निमित्त उस पर खतरा उत्पन्न करने वाले पचेन्द्रीय जीवोकी प्राण-हानि हो जाय तो भी वह (प्राण हानि) हिंसा की कोटि में नही रखी जा सकती बल्कि कर्त्तव्यपरायण श्रावक के लिए तो सच्ची अहिंसा ही है। इसे गभीरतापूर्वक समझने की महती आवश्यकता है। जैनी एक निर्दोष चींटी को भी मारना महान् पाप समझता है तो परिस्थिति उत्पन्न होने पर किसी तरह की प्राण-हानि को भी पूर्ण 'अहिंसा' की ही कोटि में रखता है। यही उसके स्याद्वाद की महान् विशेषता है। इसी अनेकान्तवाद के आधार पर वह आज संसार में अजेय खडा है।

रोग से रक्षा :—प्रश्न उठ सकता है कि किसी मुनिराज का जीवन यदि रोग के कारण खतरे में पड गया हो तो ऐसी हालत में, उनको बचाने की दृष्टि से किसी जीव की हत्या के सहारे उनका उपचार किया जा सकता है ? एक जीव की प्राण-हानि यदि एक चरित्रवान को बचा देती है तो चारित्र्य रक्षा या वृद्धि को देखते हुए ऐसी प्राणहानि को क्या अहिंसा की कोटि में रख सकते है ?

प्रश्न विचारणीय है। एक तरफ चारित्र्य वृद्धि सामने है तो दूसरी तरफ निश्चित रूप से हत्या। ऊपर विचार कर चुके हैं कि चारित्र्य रक्षा के लिए जरूरत आ पड़े तो दिल खोल कर बाधको की प्राण-हानि की परवाह किये बिना कार्य करें। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही कि निर्दोषी की हत्या की जाय या अन्य उपाय रहते हुए भी, कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने की आशा में पहले ही यह रास्ता अपनालें। यह तो अपने बचाव भर के लिए एकदम अन्तिम साधन है।

महात्मा गाधी ने अथक प्रयास किया कि पाकिस्तान पागलपन न करे, शान्ति से रहे परन्तु वह न माना। अन्त मे जब वह छाती पर चढ बैठा तब महा-मानव ने कहा—"नेहरू ? काश्मीर को बचा।" पाकिस्तान के इतने बुरे रवैये को देख कर भी ऐसा नही कहा कि पाकिस्तान को रौंद डाल। जब नेहरूजी ने देखा कि काश्मीर को बचाने के लिए शक्ति को काम में लेने के सिवाय और

कोई उपाय शेष नही, तब उन्होने अन्यमनस्क होकर वह आखिरी कदम उठाया ।
इसी तरह साध्वीजी महाराज के बचाव में भी जो प्राण-हानि हुई, वह भी सभी सम्भव उपायोंकी असफलताके पश्चात् उठाये गये आखिरी कदमका ही परिणाम था। यह सभव है कि कभी-२ अन्य उपाय के रहने पर भी कार्यकर्त्ता सर्व उपाय शेष समझ ले और वह आखिरी उपाय को काम में लेने पर उतारु हो जाय या ले ले परन्तु यह कर्त्ता की योग्यता पर ही निर्भर है। जहाँ तक उसके हृदय की सच्चाई से सम्बन्ध है ऐसा कदम आगे उठाने पर भी वह पूर्ण निर्दोष है। जैन तो इतना ही कहेगा कि प्रयासो में यह हमारा अन्तिम प्रयास होना चाहिए। प्रश्न में मुनिराज के उपचार के सम्बन्ध मे जो पूछा गया है, जैनमुनि तो क्या साधारण व्यक्ति भी ऐसा उपचार कभी स्वीकार नही करेगा और ऐसी प्राण हानि को पूर्ण हिंसा की ही कोटि में रखेगा।

हम यह अच्छी तरह जानते है कि यह हमारे चारित्र्य या जीवन पर उस जीव का आक्रमण नही है। मर जाना, मार दिया जाना या चारित्र्यहीन बना देना इन सब तथ्यों में बहुत फरक है। रोग होना, मर जाना यह तो प्राकृतिक नियम है। मरना आज नहीं तो कल पडेगा। यह निर्विवाद एव सुनिश्चित है। इसमें बिचारे उस जीव का क्या दोष ? फिर ऐसे उपचार के बाद भी यदि न बच सके तो ? बहुधा हम यह देखते हैं कि ऐसे उपचार के बाद भी अनेक नही बच पाते। इसी उपचार मे ही यदि यह करामात होती तो आज तक कोई नही मरता। यह तो हमारी भ्रान्ति है। रोग के उपचार का यह आखिरी उपाय भी नही माना जा सकता। इससे भी अच्छे-२ अन्य अहिंसात्मक बहुत से उपाय अभी भी शेष है। यदि मान भी ले कि बचाव का और कोई उपाय शेष नही, बचाव का यही आखिरी उपाय है तब हम कहेंगे कि आप इस उपाय को भी दफना दीजिए। चारित्र्य वृद्धि की ओट में एक निर्दोष जीव की हत्या कैसे स्वीकार की जा सकती है ? निर्दोष को जान बुझकर मारना ही घोर चारित्रिक पतन है। भविष्य की चारित्र्य वृद्धि की आशा में अन्यायपूर्वक प्राण बचाने का कोई भी उपाय जैनी को कभी स्वीकार नही हो सकता। इसे चारित्र्य वृद्धि नही कह सकते। कहाँ दोषी से बचने का भाव, कहाँ निर्दोषी की हत्या; इन दोनो मे आकाश-पाताल का अन्तर है। निर्दोष जीव के प्रति दया और करुणा का भाव रखते हुए मृत्यु का हसते हुए आलिंगन करना कही अधिक श्रेयस्क रहै, श्लाघनीय है। यही उदात्त भाव चारित्र्य की सच्ची रक्षा है।

अन्यायी जीवो से रक्षा :—ऐसे और भी अनेक प्रसंग उपस्थित हो सकते है। जैसे किसी गाव में नरभक्षी वाघ घुस आया हो, कुत्ता पागल वन काटने लगा हो, साड विगड कर मारने लगा हो, साँप खुले मैदान में पीछा करता हो इत्यादि। ऐसे प्रसगो पर भी उसी नीरस भाव से अन्तिम क्षणो मे अन्तिम उपाय को व्यवहृत करना चाहिये। हालाकि यह हमारे चारित्र्य पर हमला नही हैं फिर भी हम पर उनका अनुचित आक्रमण तो है ही। इसलिए ऐसे जीव भी एक निश्चित सीमा में दोषी कहे जा सकते है। उनकी विकृत्ति, अव्यावहारिकता और अप्राकृतिक ढग हमें अपने और अपने समाज के वचाव के लिए विवश कर देते हैं। हमारा ध्येय उनके अनुचित आक्रमण को रोकते हुए हमारे वचाव से है; उन्हे मारने, सताने या वदला लेने से नही। यहाँ भी हम हिंसक नही कहे जा सकते वल्कि समाज व्यवस्था की अपेक्षा से उचित ही कहे जायेंगे। यहाँ मुनिराज का व्यवहार हमारे से भिन्न हो सकता है। उनका अन्तिम हथियार उनका कायोत्सर्ग है। हमारी जिम्मेवारी उनसे भिन्न है, सफलता प्राप्ति भिन्न है, शक्ति भिन्न है, और आवश्यकता भी भिन्न है। न्याय की तराजू हमारे हृदय पटल पर स्थित है। सच्चा न्याय जव चाहे तव प्राप्त कर सकते है। ऐसे प्रसगो से हमारे ग्रन्थ भरे पडे है। महापुरुषो ने तो हमारे दिल के भावो के आधार पर ही निर्णय किया है और उसी को प्रधानता दी है।

'त्रस एवं स्थावर' का अन्तर :—हमारा मुख्य विषय स्थावर जीवो की हिंसा पर विचार करने का है क्योकि प्रभु-पूजा में द्रव्य ही काम में लिए जाते हैं। त्रस जीवो की हिंसा का प्रसग तो इस कारण ले लिया गया कि उनकी हिंसा तो और भी अधिक वुरी मानी गई है। जव त्रस जीवोकी हिंसा का स्वरूप हमारी समझ में आ जाता है तो स्थावर जीवो से सम्वन्धित हिंसा का स्वरूप समझने में हमें देर नही लगेगी।

उपयोग लेते दया रखने का कहना शर्मनाक :—कई लोगो की यह धारणा है कि "त्रस और स्थावर जीवोकी हिंसा एक समान है। हम अपने स्वार्थकी दृष्टि से चाहे कुछ भी समझें।" पर यह धारणा सही नही है। अपनी स्थितिको समझते हुए त्रस और स्थावर जीव एक समान नही समझे जा सकते। जहाँ एक हमारे जीवन के साथी हैं वहाँ दूसरे हैं हमारी देह की खुराक। हम भोजन करने वैठे, तरकारी में एक मक्खी या मच्छर गिर गया। कितना अफसोस करते है कि

बेचारी या बेचारा मर गया। रंधे हुए चावलों के लिए जरा भी दया नही आती। पीसी हुई चटनी पर कोई ख्याल नही दौडाता। जो हालत हमारी है वही हालत हमारे मुनिराजो की भी है। भोजन में किसी त्रस जीव के मरे हुए मिलने पर उनके हृदयमें भी अत्यधिक करुणा पैदा होती है। उसे वे भी अलग रख देते है। स्थावर जीवों के लिए ऐसी ही करुणा पैदा हो तो आहार करना तो दूर, आहार लेने को भी नही निकलेंगे।

तिब्बतके धर्मगुरु मान्यवर दलाईलामा से पूछा गया कि आप अहिंसा धर्मी होकर जीवो का पकाया हुआ मास, उवाले अंडे इत्यादि कैसे खा लेते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—"मैं न तो जीवोको मारता हूँ, न पकाता हूँ। भक्तजन दे देते हैं, खा लेता हूँ।" हमारी अन्तरात्माको शायद ऐसे उत्तर से संतोष नही होगा। प्रत्येक विज्ञजन इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करें एवं अपनी अन्तरात्मा से इसका स्पष्टीकरण करें कि कमी कहाँ पर है।

अस्तु ऐसे मुनिराजो का वह कथन जो स्थावर जीवो को खाते हुए, उन्ही पर दया रखने का उपदेश दिया करते हैं, कैसे शोभनीय हो सकता है? ऐसे पदार्थो का उपयोग यदि हिंसा पूर्ण है तो अहिंसा की बात करना ही व्यर्थ है। फिर किसी श्रावक का घर किसी कसाई खाने या बूचडखाने से कम नही कहा जा सकता; और पूर्ण अहिंसक प्राणी तो सिर्फ मोक्ष में ही मिल सकते हैं। पर इस धरती पर विचरनेवाले मुनिराजो को हम पूर्ण अहिंसक, बीस विसवा अहिंसक कहते हैं। तव पूर्ण अहिंसक कहे जाने वाले इन मुनिराजो के व्यवहारो को हम देखें और जैन धर्म के सारगर्भित निर्णय को समझे।

जीवों के साथ मुनि का व्यवहार:—मन, वचन और काया से हिंसा न करने की प्रतिज्ञा करने वाले मुनिराजो की दिन-चर्य्या देखना यहाँ अपेक्षित है। क्या हम उन्हें पूछ सकते है कि उनके सिर या कपडे में उत्पन्न हुई जू का वे क्या हाल करते हैं? बेचारी को अपने निवास स्थान से हटा कर जमीन पर रख देते हैं या बहुत हुआ तो कपडे में जकडकर उसको पैर पर बाँध लेते है। क्या जमीन पर रख देना अपने हाथो से उसे मृत्यु के मुख में भेजना नही है? पैर पर बाँध कर रखना क्या उसे सताना नही है? क्या यह अव्रत का पोषण नही है? क्या यह कार्य उनकी विना इच्छा के हो रहा है? अपने पीने के जल में पडी हुई मक्खी को वे इसलिए निकाल कर बाहर

रख देते हैं कि कही वह जल में मर न जाय पर सिर से जू को निकाल कर बाहर रख देने का क्या तात्पर्य है ? उसे बचा रहे है या उसके जीवन को खतरे में डाल खुद बचना चाहते हैं ? चपेट में आकर मरने वाले जीवो का तो हिसाब ही अलग है पर जान-बूझकर मुनिराज अपने दोनो हाथो से जो अकार्य करते हैं, उपरोक्त उदाहरण से इसे अच्छी तरह परखा जा सकता है।

एक और उदाहरण लें। मुनिराज के पेट में कृमि हो गई या शरीर पर दाद हो गये। वे औषधि का सेवन करेंगे या नही ? औषधि के प्रयोग से जीवो का नाश होगा या नही ? फिर जीवो का नाश क्यो ? जिन्हें हिंसा करनी ही नही, जो छ काया के जीवो के रक्षक कहे जाते हैं उनका यह व्यवहार कैसा ? वेचारे गरीवो का नाश ? वह भी एक पच महाव्रतधारी मुनिराज से ? यह सब केवल स्थूल शरीर के लिए है या किसी और के लिए ? उत्तर इतना ही देना है कि जान-बूझकर जीवो के प्रत्यक्ष मरने का कारण बनते हुए भी मुनि-राज पूर्ण अहिंसक कैसे कहलाते है ? यदि कहला सकते हैं तो यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म अपेक्षा से प्राणी से जान-बूझकर प्राण-हानि होने पर भी 'अहिंसा' ही स्वीकार करता है।

स्थावर जीवो के साथ मुनिराजो के व्यवहारो का भी निरीक्षण करें। भक्तो द्वारा मारे जाने के बाद उनकी लाशें तो रोज विना रहम दाँतो के नीचे चबाई जाती ही है, वर्षा में ठल्ले (शौच जाते) पधारते हुए, हम निठ्ठले हिंसक लोगों के समान अभागे अपकाय जीवो की घात, अपनी पूरी समझदारी के साथ, ये करते जाते हैं। कहाँ गया दया का भाव ? जिस शरीर को समस्त जीवो का रक्षक घोषित किया था, उसके द्वारा ऐसी क्रिया। कितनी विडम्बना है यह कि रक्षक ही भक्षक बन जाय। अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये वे कहते हैं—'भग-वान की ऐसी उन्हें आज्ञा है, धर्म तो भगवान की आज्ञा में है।' स्वय को निर्दोष सिद्ध करने के लिये भगवान पर दोषारोपण ! तब यह कहा जा सकता है कि भगवान ही उन जीवो की मृत्यु के कारण है। अस्तु ऐसी आज्ञा देकर परमात्मा ने जीव तो निश्चित रूप से हनन करवाये ही पर मुनिराज को अहिंसक घोषित करके हमारे इन समझदार भाइयो के सुसिद्धान्त का हनन क्यो करवा डाला ? प्रत्यक्ष जीव मारे जाँय और हिंसा न समझी जाय ? उन जीवो को मुनिराज द्वारा मारे जाने पर कष्ट हुआ या नही ? क्या वे स्वेच्छा

से प्रसन्नता पूर्वक मरना चाहते थे ? क्या उनकी अन्तर आत्मा मे वेदना नही हुई ? क्या मरते समय उन्होने आहें नही भरी ? जीवो को जान बूझकर वेदना पहुँचाई जाती है और उन्हें मारा जाता है–फिर भी हिंसा नही ? और उन हिंसको को कोई दड नही ? सबसे बडी बात तो यह कि पूजा के काम में लिए जानेवाले कच्चे पानी की एक बूद के लिए तो श्रावको के सामने ये मुनिराज उदासी, दुःख और करुणा का वह नाटक दिखाते है जिसकी कोई सीमा नही और यहाँ अपने ही सिर पर पडते घडो पानी के लिए कोई दुःख, दर्द या करुणा कुछ भी नही। पात्रे भर-२ कर श्रावकोके घरसे पानी लाकर गट-२ पीते हुए भी जो ऐसी करुणा प्रदर्शित किया करते है क्या उन जीवो पर उन्हें वास्तव में करुणा है या निपट निराला ढोंग ? पाठक वृन्द इस पर विचारें।

साध्वीजी की डूबने से रक्षा :–सूत्र में यह स्पष्ट आज्ञा है कि नदी में गिरी हुई साध्वी को साधु अवश्य बचावे। ऐसी आज्ञा क्यो ? यह प्रत्यक्ष हिंसा है या नही ? कई इस प्रश्न को "भगवान की यहाँ आज्ञा है" इस ओट के साथ-२ भुलावेमें डालनेके लिए अपने त्यागकी बडी-२ बातें जैसे–"नाव डूब जाय, तो भी हम जरा भी चूं चाँ नही करते, नाविक कह दे तो नदी के बीच में ही हमें उतरना पडे, चक्कर खाकर जाना मजूर पर बनती कोशिश नदी पार नही होते", आदि आदि खडी कर देते है। पर इस तरह कभी कोई असलियत छिप सकती है ? लखपति अपने लाखो के व्यापार की चर्चा करे, बडी-२ दान की बातें बताये पर यदि हमारे पाँच रुपये न दे तो बाकी सबसे हमे क्या लेना-देना ? उसी तरह मुनिराज द्वारा मारे जाने वाले जीवो के लिए मुनिराज की महानता का क्या मूल्य ? वे तो रोते है अपने प्राणो के लिए। तब उन्हे उत्तर देना है कि ऐसी प्रत्यक्ष हिंसा करके वे अपना बचाव क्यो करते हैं ? निश्चय ही ऐसी हिंसा करके साधु महाराज का बचना, बचाना यदि अच्छा न होता तो परमात्मा द्वारा ऐसी आज्ञा कभी नही दी जाती। चाहे यह आज्ञा साध्वीजी महाराज को बचाने के लिए ही क्यो न दी गई हो पर साध्वीजी महाराज का जीवन, महत्व की दृष्टि से मुनिराज के जीवन से कोई अन्तर नही रखता। तब उन्हें यह समझना है कि परमात्मा ने ऐसी हिंसा उनसे कराके भी उन्हें अहिंसक कैसे कहा ?

यदि आज ठाणांग सूत्र उपलब्ध न होता तो हमारे ये नवीन मतवाले भाई कभी यह स्वीकार नही करते कि नदी में गिरी हुई साध्वी को, साधु को बचाना

चाहिए। वे तो यही फरमाते—"जब साधु को ही अपना प्राण त्यागना स्वीकार है पर किसी जीव को मारना स्वीकार नही तब इतनी हिंसा करके साध्वी को बचाने का तो उनके लिए कोई प्रश्न ही पैदा नही होता। नदी में उतरने से तो अपकाय जीवो की हिंसा के साथ-२ मेढक, मछली आदि त्रसकाय जीवो की भी विराधना हो सकती है। फिर साध्वी का संघट्ठा (स्पर्श) और वह भी भीगी हुई अवस्था में। इसपर भी साध्वी बचे या न बचे। साधु अवस्था में उन्हें कोई नदी तैरनी तो सिखाई नही जाती। इसलिए जैन साधु के लिए ऐसी मान्यता स्थापित करना सरासर गलत है, मिथ्या दृष्टि है, पाखण्ड है। पर किया क्या जाय? परमात्मा ने ही सूत्र में ऐसी आज्ञा दे रखी है। यहाँ उनको "चूके" कहने की भी कोई गुंजाइश नही। यह है जिनेश्वर भगवान की आज्ञा। अब उन्हे अपनी तथाकथित मान्यता को इस आज्ञा से मिला लेना चाहिए। प्रत्यक्ष जीव मारे जांय और फिर भी हिंसा न समझी जाय? यह कैसी प्रवचना है?

संसार जीवो का सागर :—लोगो के मनो में अरुचि और घृणा उत्पन्न करा, उन्हे मूर्ति पूजा से हटाने के लिए द्रव्यो के प्रयोग को इन महानुभावो ने हिंसायुक्त तो बतलाया पर उन्हे यह ध्यान नही रहा कि जिसे वे बुरा बतला रहे हैं अपने अच्छे के लिए उसे ही वे जोरो से अपनाये बैठे है और अपनाये जा रहे हैं। अरे! जल मे रही हुई मछली क्या जल के स्पर्श से अछूती रह सकती है? अलग होकर क्या लाभ में रहेगी? भाग्यशाली! औदारिक शरीर की रचना को तो समझने का प्रयास करते।

दया के अवतार —जिनकी दसो अगुलियो के दसो नखो में ऐसे जीवोका कलेवर फँसा पड़ा हो, जिनके बत्तीसो दाँतो की रग-२में ऐसे जीवो का कलेवर चौबीसो घटे सडा करता हो, जिनके हाड़, मास और रक्त का एक-२ कण ऐसे ही जीवो के कलेवर से बना हो, जिनकी पेट रूपी भट्टी ऐसे ही जीवो के कलेवर का अर्क निकालने के लिए निरतर धधका करती हो और यहाँ तक कि जिनके प्रत्येक श्वासोच्छ्वास से ऐसे ही जीवो के कलेवर की सत्यानाशी दुर्गन्ध हर समय निकला करती हो, उनसे मैं विनय पूर्वक पूछता हूँ कि हे परमात्मा के पाट विराजने वाले दया के अवतार! आपने यह उपदेश देना कैसे उपयुक्त समझा? क्या ऐसे अवलम्बनो के बिना भी किसी की देह खडी रह सकती है? प्राप्त होने वाले उचित लाभ मिल सकते हैं? यदि नही तो यह उपदेश देहधारियो के उपयुक्त नही है। "इसको छोड़ कर उल्टे वे और अधिक घाटे ही में रहेंगे।

ऐसे अवलम्बनो के विना ही यदि जीवित रहना वतलाते और मोक्ष प्राप्ति का लाभ दिला देते तव तो जरूर दुनिया भी शावाशी देती कि वाह रे महारथियो ! जीना तो तुमने सिखाया, शुद्ध उपाय तो तुमने वतलाये जो आज हम ऐसी हिंसा को छोड कर जी रहे हैं। यदि अन्य शुद्ध अवलम्वन नही वतला सकते है तो आपके ऐसे उपदेश कौडी की कीमत भी नही रखते।

देह का पोषण पाप नहीं :—विना ऐसे अवलम्वनो के देह खडी नही रहती और विना इस देह के धर्म उदय में नही आता। यानी इस अपेक्षा से ऐसे अवलम्वनों को अपनाना धर्म का ही पोषण है,इसमें जरा भी संदेह नही। चारित्र्य प्राप्तिके वाद जव ऐसे अवलम्वनो की जरूरत रहती है तो चारित्र्य तक पहुँचने में इनकी जरूरत के सम्वन्ध में कुछ कहने की जरूरत ही नही रहती। आत्मा, आत्मा होनेपर भी इस मनुष्य देह के सहारे के विना कर्मों से मुक्त नही हो सकती। तव देह का भी मूल्य समझा जाना चाहिए। इसे खड़ी रखना पाप नही। पाप की तरफ झुकाना पाप है और धर्म की तरफ झुकाना धर्म। यह आत्मा का निवास स्थान है। यह आत्मा की पूर्व अर्जित सपत्ति है। यह तो आत्मा की संसार-समुद्र तैरने की नौका है। यह आत्मा का वह तीक्ष्ण शस्त्र है जिससे उसे अपने कर्मरूपी बंधनो को शीघ्र विवेक पूर्वक काटने हैं। यही कारण है कि इस देह के लिए तो देवता तक तरसते हैं। हम भी इसे प्राप्त करने के लिए भव-भव मे तरसते रहे है। इसे गदी मत वतलाइये, गदगी से वचाइये। इसे कमजोर मत समझिये, अधिक सवल और सतेज वनाइये। इसे रखना पाप मत समझिये धर्म प्राप्ति का स्वच्छ आधार मानिये। इसे निकम्मी मत वतलाइये, सत्पथ पर द्रुतगामी वन सके ऐसी चुस्त वनाइये। शरीर की प्रतिपालना आत्मा की ही सेवा है। इससे उचित सेवा लीजिए। आगे चलकर शुद्ध आत्म-रमणता इसी देह के ही सहारे प्राप्त होती है।

व्यावहारिक कार्यों में हिंसा वतलाना अनुचित :—निवृत्ति-मार्ग की तुलना में प्रवृत्ति मार्ग की भिन्नताओ को देखकर उनमें "पाप है, पाप है, हिंसा है, हिंसा है" ऐसा कहना व्यावहारिकता का स्पष्ट उल्लघन है। ऐसा कहने का परिणाम वडा अहितकर हुआ है। साराश यह निकला कि अधिकाश वाजिव कामो के करने से लोगो का मन स्वत. खीच गया। पाप सुनने के वाद भला पाप का कार्य कौन करे। पूजा करने मे पाप, स्कूल बनाने में पाप, अस्पताल वनाने में पाप, कुँआ खुदवाने में पाप, वाप रे वाप ! पाप ही पाप

सुनकर लोग ऐसे कामों से बचने लगे। बहुत थोडे लोगो ने ऐसे कामो में भाग लिया। लिया भी तो ऊपरी मन से। अन्तःकरण से ऐसे कामो को कभी अच्छा नही समझा। वास्तव में पहले ही "पाप" सुन लेने के बाद भला उनका मन ऐसे कामो में आगे कैसे बढ सकता था। एक तो स्वाभावत ऐसे परमार्थ के कार्यो में हमारी रुचि का अभाव, ऊपर से ऐसे उपदेशोंका सहयोग, फिर क्या था मानो 'ऊँघते को खाट मिल गई।' खुशी-२ भाई लोग शीघ्र ही इस ओर झुक गये। उन्हें यह ध्यान नही रहा कि मनुष्य देह जो 'मोक्ष-साधना' में अपना प्रधान भाग रखती है इन उचित अवलम्बनो के बिना ज्ञानवान, नीरोग और सशक्त कैसे रहेगी और मोक्ष साधना में आगे कैसे बढ सकेगी।

इन संतो ने इतनी कृपा जरूर की कि साधु के ठिकाने जाने में 'पाप' नही बतलाया। यदि आज श्रावक लोग कही ऐसा समझ लेते कि साधु के ठिकाने जाने में भी 'पाप' है तो हम उनको कौन-सा उदाहरण देकर समझाते कि ऐसा बोलना ही 'पाप' है।

मुनिराज के ठिकाने जाने में धर्म माना पर उस क्रिया को जरा परख लें। मुनिराज के ठिकाने चाहे दिन में गये हो या रात में, धूप में गये हो या वर्षा में, मोटर या रेल से गये हो या पैदल, जूते पहन कर गये हो या नगे पैर, समीप से गये हो या हजार मील दूर से, अपनी आँखो से देखते हुए गये हो या दूसरो को लकडी पकडा कर, जीवो की हिंसा तो मुनिराज के दर्शन होने से पहले ही हो जाती है। फिर भी क्रिया के पहले अग को प्रधानता न देते हुए पूछने पर यही कहेंगे—"मुनिराज के ठिकाने जाने में धर्म है।" जीव हानि प्रत्यक्ष देखते हुए भी 'पाप' नही कहते और न ऐसे कार्य को अपनाने की मनाई ही करते है, न बुरा ही समझते है। वास्तव में 'पाप' कहना ही पाप है, व्यवहार के विपरीत है। ऐसा कहते तो समाज पर विपरीत प्रतिक्रिया होती। हर एक मनुष्य में इतना विवेक नही होता कि वह शीघ्र यह समझ जाय कि आप किस आशय से पाप कह रहे है। वह तो सिर्फ 'पाप' या 'धर्म' के कहने पर गौर करता है। 'पाप' कह देने से उस कार्यको करने की मनाई समझता है और 'धर्म' कह देने से उस कार्य को करने का समर्थन। तब और व्यवहारो के लिये भी यही उपयोग क्यो नही रक्खा गया? जिस शरीर ने आत्मा को साधु के ठिकाने तक पहुँचाया और उनके दर्शनो का लाभ दिलाया, क्या उसके सहारे के बिना यह सम्भव है? क्या उसकी उपेक्षा से हम

लाभान्वित रहेंगे ? यदि नही तो उचित कार्य, जो शरीर को खडा रखने के लिए अथवा मन को शुद्ध करने के लिए, समाज को करने जरूरी है, उन कामो मे पाप कहना कितना अज्ञान है, पाठक-वृन्द ही विचारे।

शरीर से काम मुनिराज को भी लेना है और श्रावक को भी। मुनिराज अधिक ऊँचे पहुँच जाने के कारण, शरीर से बहुत सीमा तक सेवा ले चुक्ते हैं। श्रावक को उस ऊँचे पद तक पहुँचने के लिए शरीर की अधिक आवश्यकता रहती है। कार्य सिद्धि के पहले यदि वह शरीर की लापरवाही करता है तो वह भूल करता है। इसके ठीक नही रहने से वह लक्ष्य तक पहुँचने में असमर्थ हो जायेगा। मुनिराज की देखादेखी उसका वह कदम असामयिक और घातक होगा। हमे अपनी शक्ति और पहुँच को समझना है। अपने हित को ध्यान में रखना है।

पशुओसे मनुष्य भव क्यो अच्छा है ? विचारे पशु को जितनी भूख हुई, उतना खा लिया। सग्रह का नाम निशान नही, बिलकुल अपरिग्रही। झूठ बोलने का प्रश्न ही कहाँ, कुछ बोलते ही नही। चोरी भी नही करते। कुछ पशु तो हिंसा भी अपने लिए नही करते। जो कुछ उन्हें प्रकृति से मिल जाता है या मनुष्य अपने मे से दे देता है उसी पर सतोप कर लेते है। मकान भी नही बनाते। शीत, ताप का भी पूरा परिषह सहते हैं। तो क्या सच्चे महाव्रत-धारी या अहिंसक इन्हें मानें ? या इन से भी बढ कर सर्वोपरि व्रतधारी एकेन्द्री जीवो को मानें ?

मनुष्य देह क्यो मूल्यवान है ? यदि वह मूल्यवान है तो उसे अपनी खुराक चाहिए या नही ? अपने कार्य-क्षेत्र में वह ठीक से कार्य कर सके इसलिए उसको नीरोग रखना उचित है या नही ? सत्पथ पर चलाने के लिए और मन को साधने के लिए कुछ अवलम्बनो की आवश्यकता है या नही ? देह की रक्षा तो श्रावको को ही नही मुनिराजो को भी करनी पडती है और उसके लिए उनको भी किसी भी रूप में हो, छोटे से छोटे अश मे ही सही ऐसी प्राण हानि तो अपनानी ही पडती है। अक्रियशीलता की उच्चता के सामने तो आहार, विहार का व्यवहार अपनाना भी नही टिकता। उपदेश सुनाने और सुनने का व्यवहार भी नही टिकता। इसलिए अवसर के पहले ही शुक्ल-ध्यानी की समानता करना हमारे लिए उचित और लाभकारी नही कहा जा सकता।

द्रव्यों का सहयोग मुनिराज भी लेते है और श्रावक भी। पाप समझना और छोड़ने की शक्ति रहते अपनाये जाना कपट-पूर्ण नीति का परिचायक है।

जीवो को कैसे खाया जाय :—इसी तरह किसी को जीव समझना और उसी को जान बुझकर खाना, फिर उस पर दया दिखलाने की रट लगाना, निहायत शर्म की वात है। या तो हमें समझ लेना चाहिए कि हम जो कुछ खाते है वे सव एकेन्द्रीय जीवों के त्याज्य पदार्थ है या उनके जीवन का पूरा उपभोग हो जाने के वाद के अवशेष है या वे एक प्रकार के पदार्थ हैं, जो प्रकृति प्रदत्त हमारी सहज खुराक है, जिन्हे ग्रहण करने मे हमे पाप नही लगता।

क्या हमें आम और आम के वृक्ष में अन्तर नही मालूम पडता ? क्या दोनों एक कोटि के जीव है ? क्या गेहूँ और गेहूँ का पौधा समान है ? सम्भवतः वे समान नही है। उनके अकुरित होने की क्रिया को देख कर उन्हें भले ही जीव मान लें पर इस पर भी हमें गम्भीर विचार करने की आवश्यकता है। भिगोने पर दालो (चना, मोठ इत्यादि) में अकुर फूट आते है पर धान (गेहूँ, ज्वार) में ऐसे अंकुर नही फूटते। किसी की टहनी उग आती है तो किसी के वीज उगते है। कभी-२ सूखे लठ्ठो और पक्के मकानो में भी कोपलें निकल आती हैं। घास काटने पर भी वालों की तरह वढती ही रहती है। सूखे लठ्ठ भी निमित्त पाकर अग्निकाय जीवो का शरीर धारण कर लेते है। दूध दही के सहयोग से दही रूप मे परिणत हो जाता है पर पानी दही के रूप में नही जमता। प्रश्न उठता है कि अग्नि को प्रधान मानें या सूखे लट्ठ को, दही को प्रधान मानें या दूध को ? यानी प्रकृति का रहस्य अपार है। पानी उवालने पर भी पानी ही रहता है, भाप वनने पर भी पानी ही रहता है, वर्फ जमने पर भी पानी ही रहता है। अन्न को महीनों राख में लपेटकर रखिये, हवाशून्य वर्तन में रखिये, धूप में सुखाइये उसमें शीघ्र कोई परिवर्तन नही होता। अकुरित होने के लिये भी उन्हें मिटी, पानी और हवा तीनों का सहयोग आवश्यक होता है। वहुत सम्भव है मिट्टी, पानी और हवा में रहे सूक्ष्म जीव इस दाने को अपना खाद्य वना उत्पन्न हो जाते हो, या ये जीव इतने शक्तिशाली हो कि हमारे व्यवहार मे लेने पर भी वच निकलते हो। फिर भी यह मान लें कि गेहूँ भी गेहूँ के पौधे के समान ही जीव है, भले ही उगाने पर उगने के सिवाय और कोई भी गति उसमें नजर न आती हो। अत अपने लिए ऐसे जीवों का उपयोग न लेना ही उचित है। शरीर रखने के लिए जैसे आम, सतरे, केले, अगूर, तरवूज, खरवूजा, पपीता इत्यादि खाकर ही रहना चाहिए, जिनके उगनेवाले वीज आसानी से वचाये जा सकते हैं, या दही, दूध, मेवे इत्यादि का ही उपयोग

करना चाहिए। मान ले कि हमसे ऐसा कड़ा निर्वाह होना कठिन है पर हमारे दया-वन्त मुनिराज तो इसे निभाते ! शरीर रहे तो क्या, न रहे तो क्या; भला जीवों को कैसे खाया जाय ? छः काया के जीवो को अपने पुत्र के समान समझने वाले ये मुनिराज अपने ही पुत्र का कलेवर खा कैसे लेते हैं ?

सम्भवत वायुकाय, तेऊकाय और अपकाय इत्यादि सूक्ष्म जीवो की भी हिंसा हमारे द्वारा नही होती। कारण उनकी शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है (जैसे अत्यन्त महीन जुगलियो के बालो में, चक्रवर्ती की सारी सेना ऊपर से गुजरने पर भी, मोच तक नही आती) ।

हमे अपने लिए यह समस्या हल करनी होगी ताकि व्यर्थ मे गलत धारणा की उत्पत्ति से हम अपने उचित लाभ से वंचित न रहें। जहाँ पाप हो वहा धर्म समझना जैसे मिथ्या दृष्टि है उसी तरह जहाँ धर्म होता हो वहाँ पाप समझना भी मिथ्या दृष्टि का ही कारण है। ऊपर हम विचार कर चुके है कि पाप-बन्ध का सम्बन्ध मन के भावो से है जीव मारे जाने से नही। जयणा सहित कार्य करने की जो आज्ञा परमात्मा ने दी है उस पर भी विचार करना आवश्यक है ।

अन्तर स्वतः सिद्ध है :—त्रस और स्थावर जीवो के बीच मे तो हमें अन्तर रखना ही पड़ेगा। तत्वज्ञ पुरुष इतने मात्र से अन्दाज लगा लें कि साधु, मुनिराज को आहार देते समय उनके सामने अनिच्छा से यदि एक भी त्रसजीव जैसे चींटी, मक्खी, मच्छर आदि का हनन हो जाय तो वे उसी समय से उस दिन के लिए उस घर का आहार लेना स्वीकार ही नही करते परन्तु स्थावर जीवों की इतनी जान-बूझकर की गई हिंसा और उनके सामने होती हुई हिंसा को (जैसे-गर्म पानी, खीर, तरकारी या अन्य पदार्थ जब उनके पात्रो में उँडेलते है तो उनके मतानुसार–भिक्खु द्रष्टान्त ३२, पृष्ठ १५–वायुकायों के जीवो की विराधना होनी निश्चित ही है। कारण वायुकाय के जीवो का छेदन-भेदन करते हुए ही ये पदार्थ उनके पात्रो तक पहुँचते हैं।) देखकर भी वे मन में कुछ भी विचार नही लाते और खुशी से आहार ले जाते है । तब निश्चिय ही यह हिंसा नही है ।

द्रव्यों का 'कम या ज्यादा' उपयोग :—ऐसी एक शका उत्पन्न हो सकती है कि यदि इन खाये जाने वाले पदार्थों के उपयोग में हिंसा नही है तो इनके अधिक उपयोग को 'पाप' और कम उपयोग को 'धर्म' क्यो मानते है ?

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि ससार में सिर्फ जीवो को मारना ही 'पाप' नही है वल्कि और भी अनेक प्रकार से मनुष्य को पाप लगते हैं जैसे व्रत लेकर भग करना, झूठ वोलना, चोरी करना आदि। इसी प्रकार अधिक पदार्थों को काम मे लेना इसलिए वुरा माना गया है कि इनके उचित से अधिक उपयोग पर मनुष्य स्वार्थी, विलासी, रोगी, प्रमादी, आश्रित, सामर्थ्यहीन और दूसरो के अतराय या द्वेष के कारण वन जाते हैं जो निश्चय ही वुरा है, पाप है। कम पदार्थों से अपना काम सुचारु रूप से चला लेना इसलिए अच्छा है कि इसके अभ्यस्त होने से मनुष्य स्वावलम्वी वनते हैं। पदार्थ कम मिलने या न मिलने के समय मे भी अपने शरीर की रक्षा कर सकते हैं, दूसरो के अन्तराय और कपाय के भी कारण नहीं वनते। अधिक पदार्थों के सग्रह में जो समय लगता उसे वचाकर अपने स्वाध्याय में लगा सकते है और रोगादिक कारणो से, जो धर्म में महा अतराय के कारण है, वच सकते हैं। हिंसा का प्रश्न यहाँ नही है। यदि इसमे हिंसा मानेंगे तव तो हृष्ट-पुष्ट, अच्छी क्षमता वाले, नीरोग और लम्वी उमर वाले व्यक्ति, रोगी, कमजोर दुवले, पतले तथा अति अल्प आयु वाले व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक हिंसक समझे जायेंगे क्योकि ये इनकी अपेक्षा अधिक पदार्थो का उपयोग करेंगे। तो क्या रोगी, कमजोर, अल्पायु होना हमारे लिए अच्छा होगा ? तव हम कम हिंसक होगे ?

श्रावक अधिक सहुलियत का हकदार :—यह सोचना कि मुनि-महाराज की, अपने महान व्रतो के कारण ऐसे व्यवहारो में जीव हानि होने पर भी, 'हिंसा' नहीं गिनी जाती पर श्रावक की, उन्ही व्यवहारो को एक ही उद्देश्य को लेकर अपनाने पर भी, अवश्य हिंसा मानी जायेगी, असगत जान पडता है। उल्टे परमात्मा की आज्ञाओ में तो 'छूट' शक्ति और आवश्यकता के परिमाण से है। कमजोरो को तो और विशेष छूट दी गई है। जैसे मुनिराज अपने लिए न तो ठिकाने के दरवाजे खुलवा सकते है और न वन्द ही कर सकते है। यदि ऐसा करें तो उन्हें पाप लगे। पर साध्वीजी महाराज ऐसा व्यवहार अपना सकती हैं और उन्हें पाप नही लगता। यह इसीलिए कि उन्हें इस व्यवहार की आवश्यकता है, भले ही कुछ जीवो की हानि हो। वर्षा में मुनिराज ठल्ले पधार सकते हैं पर गोचरी नही पधार सकते। देखिये, एक ही वर्षा है, एक ही मुनि है, जीवों की विराधना का प्रसग भी एक ही है और आज्ञा प्रदान करने वाले भी वही भगवान है। यहाँ जीवो की विराधना का ध्यान रखा गया या मुनि के

उचित निर्वाह का? यदि परमात्मा ऐसा विवेक न रखते तो कोई भी प्राणी उनके मार्ग को निभा ही नही सकता। श्रावक तो मुनि महाराज के सामने अत्यन्त ही कमजोर पडता है इसलिए उसे तो और भी अधिक छूट की आवश्यकता रहती है। फिर जो सुविधाये मुनि को मिली हो वे भी श्रावक को न मिलें, नितान्त असम्भव ही है।

यदि श्रावक का वैसा निर्मल उद्देश्य नहीं बन पाता तो मुनिराजो को छोड हम दो श्रावको के व्यवहारो को ही मिला कर देख ले। दो श्रावक तो हम निश्चय ही एक समान हैं।

सामान्य तौर पर यह देखा जा सकता है कि किसी भी श्रावक के शरीर से ऐसा एक भी धर्म-कार्य नही हो सकता जिसमे तथा-कथित द्रव्यो का प्रयोग न होता हो या ऐसी प्राणहानि न होती हो। भले ही हम कम वुद्धि के कारण एक दूसरे को हिंसक वतलाने की भूल किया करे।

वकरे के साथ फूल की तुलना ही गलत—एक वहुत ही शान्त प्रकृति के श्रावक भाई से मैंने प्रश्न किया —"प्रभु-पूजा में आप हमे किन-२ व्यवहारों से हिंसक समझते है?"

उन्होने उत्तर दिया—"अधिक तो मै नही कहूँगा। मोटा-मोटी मदिरों में फूल और कच्चे पानी का जो प्रयोग किया जाता है, सरासर हिंसा करना है। जीव हिंसा करके भगवान की भक्ति करनी कैसे अच्छी मानी जाय? आप ही सोचिये यह कहाँ तक उचित है? वकरा चढानेवाले जव हिंसा करके अपने प्रभु की भक्ति करते देखे जाते हैं तो आप और हम सभी हाय-तोवा मचाने लगते है पर वकरे की वलि चढा कर भक्ति करने वाले को अपनी भूल थोडे ही दिखाई देती है? ठीक उसी प्रकार आपको भी अपनी भूल दिखाई नही देती।"

असल मे जव कोई वात दिमागमें ठूस जाती है तो वह निकालने से भी वाहर नहीं निकलती। इन भाइयोके मनोमे यह वात ठूसी हुई है कि जीव सव समान है चाहे त्रस हो अथवा स्थावर और प्राण-हानि को तो हिंसा ही कहेगे चाहे किसी व्यवहार को लेकर हुई हो।

सोचिये, एक ने अपने खाने के लिए मास पकाया और दूसरे ने अपने लिए अन्न। दोनो अपनी-२ थाली पर भोजन करने वैठे और भोजन के पहले दोनो ने धर्म-गुरु को श्रद्धा से याद किया कि कोई मुनिराज पधारे तो दानादिक का लाभ लें।

क्या दोनो को लाभ होगा ? भाग्यवश यदि मुनिराज पधार जाँय तो क्या वे आहार लेकर दोनो को लाभ देंगे ? यदि नही तो उन्हे समझना चाहिए कि बकरा चढाने में और फूल चढाने में कितना अन्तर है। एक को लाभ की प्राप्ति होती है और दूसरे को क्यो नहीं होती। फूल के जीव की वकालात करने वालो को तो और भी दो बार सोचना चाहिये। यद्यपि हमारा उद्देश्य उसकी भलाई करने का नही है तो भी अप्रत्यक्ष रूप से ही सही अन्य प्रयोगो को देखते हुए हमारे इस व्यवहार ने उस जीव की भलाई ही हुई है। इस प्रयोग से हमारे विषय सुखो में न्यूनता आती है एव फूलकी वेदनामें भी भारी कमी पड जाती है। क्या इन्हे उसकी भी भलाई अच्छी नही लगती ? महक से मोहित हो विषय सुखो के लिए पहन कर मसोसने तो उन्हे जरा भी विचार उत्पन्न नही होता। कच्चे फूलो को भट्टी पर उबाल कर उनसे बनाये गये सरस गुलकद और गुलाबजल को खाते समय श्रावको को ही नही पच महाव्रतधारी मुनिराजो को भी फूलो पर जरा दया नही आती और यहाँ इतने दुःख दर्द के आँसू बहाते है मानो उनके पुत्र का ही वध हो रहा हो। इसे कहना चाहिए—"भीम के लिए धृतराष्ट्र का रोना।"* पूजा में फूल न तो उबाला जाता है और न मसोसा ही। फूल यदि बोलता तो वह जरूर कहता कि "माला पहन कर मसोसने वालो एव उबाल कर अर्क निकालने वालो के हाथो मे बुरी दशा में पहुँचने की अपेक्षा पूजा के स्थान मे आकर समाप्त होना

---

*चूंकि धृतराष्ट्र के सारे पुत्रो को युद्ध में भीम ने ही मारे थे, इसलिए मन ही मन धृतराष्ट्र को भीम पर बडा ही क्रोध था। जब युद्ध समाप्त हुआ तो भीम को दबोच कर मार डालने की इच्छा से, उन्होने श्रीकृष्ण भगवान से कहा—"मैं भीम को गले लगाना चाहता हूँ।" भगवान उनका भावार्थ समझ गये। एक भीमकाय आटे का पुतला बनाया और अन्दर गुड का पानी भर दिया। धृतराष्ट्र से कहा गया भीम यहीं खडा है, मिल लीजिए। धृतराष्ट्र अधे तो थे ही भीम समझ उस पुतले को ऐसा जोर से दबाया कि उसका कचूमर निकल गया। उसमें जो पानी भरा हुआ था वह जोरो से उछला। समझा, भीम चल बसा। जोर-२ से चिल्लाये—'हा भीम! हा भीम!

भगवान कृष्णचन्द्र बोले—"शान्त होइये, यह तो आटे का पुतला था। भीम जीवित है।" बिचारे बहुत लज्जित हुए।

मेरे लिए कही श्रेष्ठ है। यहाँ कम से कम मुझे शान्तिप्रद स्थान तो मिलेगा। कई सासारिक प्राणियो को परम पिता परमात्मा की भक्ति करते हुए तो अनुभव करूँगा।"

पाठक-वृन्द सोचे कि क्या हमें हिंसक समझने वालो के मनो में फूल के प्रति दया या करुणा का भाव है? जब कि वे नित्य ही उनका अपने व्यवहारो मे प्रसन्नता पूर्वक उपयोग करते है। हम बकरा न तो मारते है और न किसी के द्वारा मारे जाने के बाद उसके किसी अश को खाते है इसलिए बकरा मारनेवाले को बुरा कह भी सकते हैं पर वे हमे फूल के प्रयोग के लिए कैसे बुरा कहते है, जब कि वे खुद उसका उपयोग करते नही थकते।

यदि आप कहें कि आज से वे, फूलो, या उनसे बनाये गये द्रव्यो के उपयोग को बिलकुल छोड देगे तो वे क्या-२ छोड़ देंगे? जल, तरकारी, रोटी आदि भी छोड देगे? यदि नही, तो उन्हें समझ लेना चाहिए कि जब तक वे इस ससार को नही छोड देगे हम उनका पीछा छोडने वाले नही है, क्योकि हमे मालूम है कि वे अपनी देह को कैसे खडी रख रहे हैं।

गर्म पानी आया कहाँ से:—यही हाल पानी के प्रयोग का है। तपस्या और त्याग को तो सभी धर्म का कार्य मानते हैं। कच्चे पानी के पीने का जो त्याग करते है, उस त्याग को भी परखना आवश्यक है। कच्चा पानी जो पूजा के काम मे लिया जाता है, हिंसा की ही दृष्टि से बुरा माना गया है। पर आप आश्चर्य करेंगे कि जीव हिंसा तो कच्चे पानी की अपेक्षा गर्म पानी मे अधिक होती हैं। पानी को गर्म करने मे तो त्रस-काय तक के जीवो के मरने की सम्भावना रहती है। त्रसकाय न भी मरे पर अग्नि-काय, वायु-काय आदि के जीव तो निश्चित रूप से अधिक काम में आये दीखते ही है। फिर भी उसे व्रत माने, धर्म मानें, अधिक हिंसा अपना कर! यह क्यो?

कई लोगो का कहना है कि एक बार अधिक जीव मरेगे किन्तु बाद मे उस पानी में, 'समय-२ पर उत्पन्न होने और मरने वाली क्रिया' रुकने से अनेक जीव जन्म-मरण से बच जायेंगे। ऐसा समझना सरासर भूल है। जीवो को मार कर जीवो की उत्पत्ति रोकना ही यदि दया मान लिया जायेगा तब तो जैन धर्म का सिद्धान्त ही बदल जायेगा। फिर तो समय-२ पर घर में जो अनेक मक्खी, मच्छर इत्यादि उत्पन्न होते है उन सब को मार दे और बाद मे न अधिक

उत्पन्न होंगे न मरेंगे, ऐसा जान कर मह॰॰ दया मान लें! तव हमें कहना पडता है कि हिंसा की दृष्टि मे कच्चे जल की अपेक्षा गर्म जल के प्रयोग मे अधिक हिंसा है। फिर अधिक हिंसा वाले कार्य को त्याग कैसे माना गया ? उत्तर में कई सज्जन ऐसा कह देते है कि "ससार भर के कच्चे पानी को तो अभय-दान दिया।" ऐसा समझना भी उचित नही है। कच्चा पानी पीने का त्याग किया है, उवालने या अन्य कामो में लेने का त्याग थोडे ही किया है। क्या उवालने से उन जीवो का नाश नही होता ? उवाला जाना तो किसी जीव के लिए और भी ज्यादा भयकर वेदना है। फिर यह अभयदान कैसा ?

गर्म पानी पीने वाला तो प्यास की अनिश्चितता के कारण एक लोटे की जगह पाँच लोटे उवालता है। इस दृष्टि से भी वह हिंसा अधिक ही करता है, जो इस त्याग की ही कृपा समझिये। फिर जहाँ इच्छा हुई वहाँ वह पानी पी लेता है, वस पानी गर्म किया हुआ मिलना चाहिए। इसलिए गर्म किये जाने वाले ससार भर के पानी का दोष भी उसे उठाना पडता है। अव विचारिये, गर्म पानी पीने वाला हिंसा अधिक करता है या कम ? स्वास्थ्य एवं अन्य कई दृष्टिकोणो से गर्म पानी निश्चय लाभकारी है और यही कारण है कि शास्त्रकारो ने इस व्यवहार की आज्ञा दी है परन्तु हिंसा कम है, का यहाँ कोई प्रश्न ही नही है।

जव प्रत्यक्ष हिंसा अधिक की जा रही है तो फिर उसे त्याग मानें, धर्म मानें यह क्यो ? "त्याग तो है, त्याग तो है" ऐसा कहने से काम नही चलेगा। क्या, दिन मे भोजन करने का त्याग, त्याग माना जायेगा ? क्या, 'सत्य वोलने का त्याग' त्याग माना जायेगा ? क्या मुनिराज सत्य वोलने का भी त्याग करा देंगे ? महानुभावो ! त्याग अवगुणो का किया जाता है। गुणो का त्याग, त्याग थोडे ही माना जा सकता है ? ऐसे व्यवहार से पाप मानने वालो के सिद्धान्त का तो यहाँ उन्ही के हाथो खडन हो जाता है जब कि अधिक हिंसा वाली क्रिया को अपना कर भी, वे उसमे त्याग और धर्म मानते है।

राख से पानी को पक्का वनाने की जो प्रथा है वह तो और भी दयनीय है। वे मन में तो वडे खुश होते है कि पानी को गर्म करने मे जो हिंसा होती उससे तो वच गये पर वात वहुत ही उलटी हो गई। श्रावक लोग घडो पानी को जरूरत के वहुत पहले ही, इसलिए मौत के घाट उतार कर छोड देते है कि वार-२ यह तकलीफ न करनी पडे। कई दिनो तक वे इस पानी का व्यवहार

करते है। कच्चे पानी पर दया दर्शानेवाले महानुभाव, त्याग और तपस्या के नाम पर यह कैसा कुचक्र चलाते है और फिर ऊपर से अपने को लाभान्वित समझते है। क्या यहाँ भी किसी ससारी काम के वहाने इस तरह की हिंसा छिपाई जा सकती है? सवसे वडा अनर्थ तो तव होता है जव ऐसे पानी को वे उपवास मे भी काम मे लेते है। तिविहार उपवास मे पानी को छोड दूसरे सव द्रव्यो के सेवन का त्याग किया जाता है, जव कि वे खुद अपने हाथो से पानी मे इस 'द्रव्य' (राख) को मिलाते हैं। तव इस द्रव्य का दोष तो उन्हें लगता ही है। राख एक द्रव्य ही है जिसमे अनेक प्रकार के क्षार आदि तत्व रहते है जो पानी मे घुल जाते हैं। भले राख की हमारे खाद्य पदार्थो मे गणना न की जाय, पर पानी के साथ उसका मिश्रण उचित नही माना जा सकता, जैसे त्रिफला इत्यादि के योग से अचित्त किया गया जल उपवास में काम नही लिया जाता। एक वात और भी है कि राख मे अनेक प्रकार के जले त्रसकायो के अवशेष भी रह सकते है कारण कि लकडियो में, उपलो मे अनेक प्रकार के जीव जन्तु कभी-२ देखने में आते ही है। उपयोग रखने पर भी कुछ उनके साथ जल जाते है। कभी-२ कोई वाहर से भी आकर जीव चूल्हे मे पड जाते है और जल कर मर जाते है। इसलिए राख को तो अशुद्ध ही समझना चाहिए। सवसे वडी हानि है इसका स्वास्थ्य पर वुरा प्रभाव। रोज-२ अधिक मात्रा मे यह पानी पीने से शरीर मे अत्यधिक क्षार पहुँचता रहता है जो आयु को क्षीण करता है। यह प्रथम श्रेणी की हिंसा हे। पर क्या किया जाय, मुनिराज जो रात्रि को अपने पास पानी नही रखते उन्हे सवेरे-२ ठल्ले पधारने के लिए पानी जो चाहिए। कच्चा पानी तो लेना नही और इतने सवेरे गर्म पानी मिलने में वडी कठिनाई होती है। इसलिए पूरी जानकारी मे होते हुए भी अपने स्वार्थ के लिए ऐसी अनियमितता और अपने द्वारा ही प्रमाणित ऐसी हिंसा का पोषण ये सानन्द स्वीकार करते रहते है।

मन्दिरो मे तो एक मनुष्य के पीछे कठिनाई से एक गिलास या एक लोटे पानी की हिंसा जिम्मे आयेगी पर यहाँ तो त्याग और तपस्या के नाम पर न मालूम कितने-२ पानी का नाश कर दिया जाता है, कभी निष्पक्ष भाव से विचारते तो इस भयकरता का वोध होता। इन महापुरुषो को हमें हिंसक वतलाने के पहले अपने जीवन पर दृष्टि-पात कर लेना उचित है। यह है हिंसा वतलाने वालो

की हिंसावृत्ति ! प्रश्नकर्ता खुद तो गर्म-पानी का प्रयोग कर कच्चे पानी का नाश करते हुए, व्रत का उदय और त्याग का पोषण अर्थात् धर्म मानें और हमें ऐसे ही उपयोग पर हिंसक बतलावे, यही बलिहारी है।

मंदिर हमारा घर —यदि कहा जाय कि इन्होंने हिंसा करके अथवा पदार्थों का उपयोग लेकर, शरीर का पोषण किया जो आवश्यक था, अनिवार्य था पर पूजा करने वालो ने तो पदार्थों को व्यर्थ गँवा कर उनका दुरुपयोग ही किया, वह निश्चय ही अखरने वाला कहा जायेगा। अब जरा इनके घरो को देखिये, कितने-२ पदार्थों का उपयोग, सुबह से शाम तक ये कर डालते हैं। क्या ये स्नान नही करते ? मकान नहीं बनाते ? भोजन नही पकाते ? ये क्या नहीं करते ? यदि कहे कि घर की बात अलग है। तो समझ लीजिये, मदिर एक अपेक्षा से हमारा घर ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि वह किसी व्यक्ति विशेष का न होकर सब भाइयो का सम्मिलित घर है। वहाँ बगीचे होते है, शौचालय होते है, स्नानघर होते है, रसौडे होते है, इसी तरह जिनराज भगवान की स्थापित की हुई प्रतिमा युक्त स्वाध्याय शाला भी होती है जैसे पुराने जमाने मे या आज भी श्रावको के घरो मे घर देरासर या पौषध-शालाएँ हुआ करती है। अब बतलाइये, हमारे मन्दिर मे और श्रावक के घर में क्या अन्तर रहा ? यदि श्रावक के घर में पौषधशाला के साथ-२ सब कुछ होते हुए भी उसके महत्व को कम नहीं कहा जा सकता और यदि श्रावक समय-२ पर पदार्थों के सहयोग से अन्य सब व्यवहारो को अपनाता हुआ, उसी घर मे सामायिक भी कर सकता है तो मदिरो में द्रव्यो के उपयोग को कोई अनुचित कैसे कह सकता है।

पूजा मे पदार्थों के उपयोग को, दुरुपयोग मानना नितान्त नासमझी है। पूजा करने वाले भाई, सम्मिलित प्रतिष्ठान के सहयोग से अति अल्प पदार्थों में ही अनेक कार्य बडी सुगमता पूर्वक निपटा लेते है, (जैसे भाई-२ साथ रहने से घर के अनेक खर्चे कम लगते है)। यहाँ विशेष रूप से समझने का यह है कि पूजा करने वाले भाई अनेक पदार्थों का मोह छोड, अपनी इच्छाओ का दमन करते हुए, पदार्थों की बचत किया करते है। परमात्मा के नाम की शीतलता जब उनके हृदय को स्पर्श कर जाती है तो उनकी समस्त तृष्णाएँ ही शान्त हो जाती है और इस तरह जीवन निर्वाह मे अनेक पदार्थों की आवश्यकता स्वत कम हो जाती है। इसलिए इसे पदार्थों का दुरुपयोग या अपव्यय नही कहा जा सकता।

ऐसा कार्य जहाँ धर्म ही धर्म हो .—उन्ही महानुभाव से मैंने फिर पूछा—"मान्यवरजी, जब ऐसे कार्यों मे आप हिंसा समझते है तब कृपा कर क्या मुझे ऐसा उपाय वतला सकते हैं जिसमे हिंसा न हो, धर्म ही धर्म हो ?"

उन्होने कहा,—'देखो अभी वतलाता हूँ', इतना कह कर वे एकदम शान्त भाव से, सीधे बैठ कर आँख मूदते हुए ध्यान लगाने लगे। थोडी देर बाद बोले—'उपाय समझ मे आया ? इस तरह से ध्यान करिये। हिंसा बिलकुल नही होगी और धर्म ही धर्म होगा। क्यो व्यर्थ मे ससार के आरभ-समारम्भ मे पड़ते है।"

मैंने कहा—"आपने ठीक कहा, चाहे इसमें मन्दिरो को वनाने और पूजने; उपाश्रयो को सभालने और वहाँ तक जाने; पुस्तको को छपाने और पढने; ओधा मुँहपति को जुटाने और उपयोग मे लेने और नवकारवाली को पीरोने और उसको फेरने जैसी आवश्यकता न भी पडे पर ऐसे ध्यान के लिए भी तो चाहिए "शरीर" और वह भी "नीरोग शरीर।" फिर आप जैसे अनुभवी पुरुषो का सहारा भी चाहिये। इन दो बातो के पीछे कितना बडा इतिहास छिपा हुआ है, क्या उस पर आपने कभी दृष्टिपात किया है ? यदि नही, तो देखिये 'दूध' के पीछे गाय की प्रतिपालना का क्या सम्बन्ध है ? फल के पीछे, पेड की सार सभाल का क्या महत्व है ? शरीर को अपनी खुराक चाहिए या नही ? क्या यह बिना हिंसा—जैसा आप समझ रहे है—सम्भव है ? यदि नही, तो इस हिंसा के बिना ध्यान की प्राप्ति कैसे होगी, कहाँ तक होगी ? आपकी समझ के अनुसार इसका अर्थ है—'बिना गाय की प्रतिपालना किये दूध को प्राप्त करते रहना, पेडो की सभाल किये बिना फलो को प्राप्त किये जाना। मान लीजिए आप को बिना ऐसा परिश्रम किये ही ये वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है, तो भी यह नही समझ लेना चाहिए कि किसीने उसके लिए मेहनत नही की है या आप भी किसी और रूप मे मेहनत नही कर रहे है। आपको यहाँ यह भी नही समझ लेना चाहिए कि ऐसे पदार्थों के उपभोग पर आपको अपने हिस्से की हिंसा नही लगती। यदि ऐसी प्रतिपालना की हिंसा आप उस पर डालते हुए जिम्मेवारी से मुक्त होना चाहेंगे तो वह भी जिम्मेवारी से मुक्त होना जानता है। वह स्पष्ट कह देगा—"मै इस हिंसा का बिल्कुल जिम्मेवार नही हूँ। ये महापुरुष पैसा देकर मुझसे यह कार्य करवाते थे।" बात भी ठीक है। आप उसे पैसा तो देते ही है। तब आप ही विचारिये मूल में दोषी कौन हुआ ? उस दिन का भी ख्याल करिये जिस

दिन आपकी तरह सभी स्वार्थी हो जायेंगे। फिर ये वस्तुएँ आपको कैसे प्राप्त होगी ? वे भी चकराये। सोचा—"अभी-२ थोडी देर पहले तो खा पीकर बैठा हूँ। थोडी देर बाद भी खाना-पीना पडेगा। यदि श्रीमतीजी रूठ जाती है या अन्न पैदा करने वाला मुझे अन्न नही बेचता है तो खेती से लेकर चूल्हा फूँकने तक की, सब क्रियाएँ क्या मुझे नही करनी पडेगी ? फिर वह हिंसा किसको लगेगी ?" निष्कर्ष यही कि कम से कम खाने पीने का परिश्रम किये बिना ध्यान को प्राप्त करते रहना भी असम्भव ही है।

वस्तुत. समस्त व्यवहार एक दूसरे पर आश्रित है। मोटर मे जितना महत्वशाली इंजिन है, उतना ही पेट्रोल, पहिया और चलानेवाला भी। अपनी-२ जगह सभी उपयोगी है। सभी मिल कर उद्देश्य की पूर्ति करते है। किसीकी भी उपेक्षा अविवेकशीलता ही है। शुद्ध ध्यान प्राप्ति का श्रोत भी मनुष्य जीवन पर ही अवलम्बित है। सभी हाड-मास के बने हैं, सभी अन्न खाते है। फिर क्या बात है कि एक बिना हिंसा के धर्म कर सकेगा और दूसरा न कर सकेगा। कई दोनो काम साथ-२ करते है, कई थोडा आगे पीछे। सबल हो जाने के कारण कई लोगो को कम सहारे की आवश्यकता रहती है। कमजोर अधिक सहारा लेते है। धीरे-धीरे जब बात साफ हो जाती है तो हमारा भ्रम भी दूर हो जाता है। किसमे हमारा हित है, किसमें अहित, यह हमें ही सोचना है।

बिना द्रव्यों के, जीवन ही असम्भव—बात तो यही होनी चाहिए कि अच्छे कामो में लिया गया पदार्थो का उपयोग अच्छा और बुरे कामो में लिया गया पदार्थो का उपयोग बुरा। वही पानी की बूद जो सर्प के मुख में जाकर विष बन जाती सीप के मुख में चली जाय तो मोती बन जाती है। वही धन जो वेश्या के नाच से महा कर्म बन्ध का कारण बनता है, साधु सन्तो के दर्शनो निमित्त जाने आने में खर्च किये जाने पर आत्म-शुद्धि का महान् हेतु बन जाता है। हमे इस न्याय को समझना चाहिए। द्रव्यो के प्रयोग को यदि सब जगह हिंसा ही हिंसा समझेंगे तो ऐसी हिंसा को त्याग कर हमसे कोई भी धर्म कार्य नही हो सकेगा। बिना इनके सहारे कैसे सामायिक इत्यादि के उपकरण प्राप्त कर सकेंगे ? धर्म प्राप्ति के हेतु शरीर को कैसे रख सकेंगे ? इस तरह हिंसा समझने वालो के हिसाब से तो हम पूर्ण अहिंसक उसी दिन होगे जिस दिन हमारा यह शरीर लाश रुप में

परिणित हो जायेगा। फिर न इधर-उधर हिलडुल कर हिंसा करेंगे न किसी को सतायेंगे, न द्रव्यो का सेवन ही करेगे। यहाँ तक कि श्वासोच्छ्वास न लेकर वायुकाय तक के जीवो को अभयदान देते हुए उनकी भी हिंसा नही करेंगे। क्या तव हम पूर्ण अहिंसक होगे ? सोचिये, हम जीवित रह कर लाभान्वित होगे या मरकर ? जीते है तो द्रव्य-हिंसा निश्चित है और मरते है तो . . . सारा मामला ही चौपट !

सरासर धोखा —कोई सज्जन यहाँ कह सकता है, "हम न तो जीने की कामना करते हैं, और न मरने की। हम तो इच्छा करते है तिरने की।" ऐसा कहना भी या तो कपटपूर्ण है या विवेक शून्य। यहाँ 'तिरने' की इच्छा मात्र से, "जीने" को तो पहले ही चाह लिया गया है। तिरना तो जीने ही की एक क्रिया है। जीवन ही न रहा तो तिरने की क्रिया कौन करेगा ? मुनिराज किसको उपदेश देगे ? किसको तारेंगे ? तिरने का सम्बन्ध तो जीवन ही से जुडा हुआ है। मरने के वाद तो तिरने का कोई प्रसग ही नही रह जाता। तव या तो तिर चुकते है या दूसरा जन्म पाकर फिर तिरने की क्रिया शुरु करनी है। 'जीना' नही चाहना, और 'तिरना' चाहना, अजव तमाशा ही है। तो क्या पानी में डूवने के १-२ दिन वाद, शरीर जव पानी पर तैरने लगता है, उस 'तैरने' को ये 'तिरना' मानते है ? क्या प्राणी का ऐसा 'तिरना' ये चाहते है ? धन्य है इनकी 'कामना'।

किसी जीव का 'तिरना' तभी सम्भव हो सकता है जब पहले 'जीवन' हो। अत- ऐसा कहना कि न जीना चाहते है और न मरना, सरासर असत्य भाषण है।

'जीवन' ही की यदि चाह नही है तो फिर पच-महाव्रतधारी मुनिराज आहार किसलिए करते है ? एकेन्द्री जीवो के कलेवर का त्याग, त्रस-जीवो का वचाव और परम-लक्ष्य मुक्ति की भी शीघ्र प्राप्ति। ऐसे महान् उपकारी 'आहार त्याग' को 'जीने' की विलकुल कामना न करने वाले और 'तिरने' को ही सवकुछ समझने वाले मुनिराज, जिनका कोमल कलेजा, मूर्ति-पूजा मे मामूली द्रव्यों का प्रयोग देख कर ही करुणा से थर-२ कापता हो—न अपनावे तो औरो को कहा ही क्या जा सकता है।

'तिरने' के लिए भी आवश्यक है 'जीवन' और 'जीवन' के लिए आवश्यक है 'द्रव्य'। इसलिए द्रव्यो का प्रयोग तो हमे करना ही होगा।

कम से कम हिंसा —आखिर कोई इतना कह सकते है कि जीवन निर्वाह के लिये जितनी कम से कम जरूरत हो, 'द्रव्य' अपना कर, उतनी हिंसा तो करनी पड सकती है अधिक क्यो करें ? और क्यो करें धर्म प्राप्ति के लिए ?

कहने का भाव यह है कि मूर्ति-पूजा मे होती हुई हिंसा को अपनाये विना ही वडे मजे में गुजर हो सकती है, फिर ऐसी अधिक हिंसा क्यो की जाय ? पर प्रश्न यह है कि आवश्यक हिंसा का निर्णय कौन करेगा ? आवश्यकता तो प्रत्येक की भिन्न-भिन्न होती है। कई मुनिराज जहाँ जीवन निर्वाह के लिए कम-से-कम कपडा लेते है, वहाँ दिगम्बर मुनिराजो ने यह दिखा दिया है कि विना कपडो के भी काम चल सकता है। सोचिये, कपडे काम मे लेने वाले मुनिराज की आवश्यकता को आवश्यक समझे या अनावश्यक ? कोई कुछ भी समझे, न्याय की कुर्सी पर वैठकर निर्णय करनेवाला यही निर्णय देगा—"चूकि कपडे व्यवहार में लेने वाले मुनिराज चाहें तो अपनी आवश्यकता को और भी कम कर सकते है इसलिए सम्पूर्ण 'कमसे कम' को आप अभी नही अपना सके है। लोक लज्जा की दृष्टि से भी इतने कपडो की आवश्यकता नही जान पडती"। जहाँ एक मुनिराज दूसरो को उपदेश देने के लिए, जीवो की विरावना को जानते हुए भी खूब चलते-फिरते है वही एक दूसरे मुनिराज एक ही जगह रह कर, शान्ति पूर्वक ध्यान में महीनो व्यतीत कर देते है। तो क्या हम कह सकते है कि मुनिराज के लिए उतना चलना-फिरना आवश्यक है ? फिर वगाल जैसे अधिक जीवोत्पति वाले देश में पधार कर चौमासा करने का क्या तात्पर्य है ? पूर्वाचार्य यहाँ नही पधारे तो क्या उनका चरित्र दोपपूर्ण रहा ? उत्कृष्ट चारित्र नही पला ? यदि नही तो यह अधिक हिंसापूर्ण क्रिया इन्ही के लिए आवश्यक कैसे हो गई ? अवोध जीवो को मारना और मनुष्यो को तारना यह उनका कहाँ का न्याय हुआ ? क्यो नही समाधि लगाकर जैसलमेर जैसे शुष्क क्षेत्र मे विराजे रहते ? विचारे अवोध जीव तो वचे। खुद तो धर्म की प्रभावना समझ, जीव हिंसा की परवाह किये विना कार्य करते जाना और दूसरो को हिंसक वतलाते जाना, नितान्त अन्याय है।

तात्पर्य यही है कि आवश्यकता की कोई सीमा नही है। जिस आवश्यकता को आज हमने कम से कम समझा है, कल उससे भी कम मे हमारा काम चल सकता है। मूर्ति-पूजा में तो हिंसा है ही नही। यदि कोई हिंसा मान भी वैठा है तो उसको छोड़ने ही से उसकी अधिकाधिक हिंसायें कम हो जायेगी, ऐसा नही समझ लेना

चाहिए। धार्मिक पुस्तको के छपाने में, व्याख्यानो से धर्म प्राप्त करने के लिए वडे-वडे उपाश्रय या पडाल बनाने में, मुनिराजो से धर्म प्राप्त करने के लिए रेल या मोटर से आने-जाने में, दीक्षा लेने वाले महापुरुषो के सम्मानार्थ जुलूस निकालने मे एव उनका दीक्षा महोत्सव आयोजित करने में, देव लोक हुए मुनिराजो की ठाठ से अर्थी निकालने मे तथा उनकी स्मृति मे स्मारक बनाने मे, पचमी जाते हुए मुनिराजो के पीछे-२ बरातियो की तरह चलने मे, बिहार करते हुए मुनिराजो के साथ (सेवा के बहाने) रह कर लश्कर की तरह तम्बुओ के ढेर तथा पानी की टकिये आदि ढोने में, 'चौमासे' मे पधारनेवाले भाइयो के लिए लकडी पानी, जगह इत्यादि का प्रबन्ध करने मे, रात के व्याख्यानो निमित्त गैस की बत्तिया जलाने आदि आदि सैकडो ठिकानो पर हिंसा कम करनी बाकी रह जायेगी। कोई अपना रहा है, इसलिए इसे अनिवार्य नही कहा जा सकता। इन सब व्यवहारो को अपनाये विना भी उनका शरीर मजे में खडा रह सकता है। किसी दूसरे ससारी काम के लिए भी नही अपना रहे है, अपना रहे हैं, धर्म प्राप्ति के लिए। इसलिए प्रार्थना इतनी ही है कि स्वेच्छानुसार हिंसा को कम से कम न समझ, अति आवश्यक व्यवहारो को ही वे अपनावे। तब उन्हे समझ मे आ जायेगा कि बिना हिंसा के धर्म की प्राप्ति कैसे की जाती है और धर्म प्राप्ति के लिए हिंसा अपनाना कैसे आवश्यक है।

हिंसा समझने के बाद अपनाते वे भी हैं —अस्तु, कुछ भी हो इतना तो शायद उनकी समझ मे भी आ गया है कि हिंसा को हिंसा समझने के बाद अपनानी तो उन्हे भी पडती है और अपनानी पडती है धर्म प्राप्ति के लिए। कम और ज्यादा हिंसा के विषय में मैंने क महानुभाव से प्रश्न किया—

"लक्षणो से मुझे ऐसा लगता है कि आजकल आप लोग भी हिंसा मे अधिक प्रवृत्त होने लगे है। पुस्तको तथा साधु सन्तो के चित्र इत्यादि छपाने का काम आगे की अपेक्षा बहुत अधिक बढ रहा है। साधु सन्तो की सेवाओ में तथा दर्शनार्थ पधारने में बसो, मोटरो इत्यादि का उपयोग विशेष रुप से होने लगा है। क्या जब मोटरें नही थी, अथवा कम थी तो लोग धर्म ध्यान नही कर पाते थे? फिर आप जैसे हिंसा के स्वरूप को समझने वालो के लिए ऐसे हिंसा-युक्त अवलम्बनो का धर्मप्राप्ति में अधिक उपयोग क्यो? और अफसोस तो इस बात का है कि ऐसी हिंसा को छोडने की सामर्थ्य रहते हुए भी, हिंसा को कम करने की

जगह और अधिक अपनाते हुए कुछ ठाठ-बाट अधिक ही करते नजर आते हैं। हिंसा को 'हिंसा' यानी अफीम या गोबर के समान समझाने और समझने के बाद मंदिरों को तो आपने क्षणमात्र में छोड़ दिया। इससे आशा तो यही थी कि और ठिकाने भी आप हिंसा दिन-पर-दिन कम ही करेंगे पर जैसा मैंने ऊपर कहा है उल्टे आप तो दिनों-दिन हिंसा में और अधिक ही प्रवृत्त हो रहे हैं।"

तब उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया—"हम हिंसा अधिक अपनावें या कम, हिंसा को हिंसा समझ कर अपनाते हैं। सही दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। गोबर को गुड़ समझने की भूल करने वाले नहीं हैं।"

सवाल बिलकुल सीधा है कि हिंसा की भयंकरता को समझने वाले, सामर्थ्य रहते उसको कम करने के स्थान पर अधिक क्यों करने लग गये ? हिंसा की भयंकरता को न समझने वाला यदि हिंसा करता है तो उसकी अज्ञानता को देखते हुए उस पर गम खा सकते हैं, उसे समझाने का प्रयत्न भी कर सकते हैं और भविष्य में उसके सुधर जाने की आशा भी रख सकते हैं पर हिंसा की भयंकरता को जानने वाले यदि हिंसा करें और दिन-२ अधिक करने लगें तो क्या वे भी दया के वैसे ही पात्र हैं ? भला यह कोई उत्तर है—"हिंसा को हिंसा समझ कर ही अपनाते हैं।" बकरे मारने वाला, यदि यह कहे—"मैं मारता जरूर हूँ पर इसे हिंसा समझता हूँ, यानी हिंसा समझ कर ही मारता हूँ।" यह कहकर यदि वह और अधिक बकरे मारने लगे और पूछने पर बार-२ यही उत्तर दे—"मैं कम मारूँ या ज्यादा हिंसा को हिंसा समझता हूँ। हिंसा समझ कर ही अपना रहा हूँ।" तो अब उसे क्या समझावें ? कैसे समझावें ? क्या हमें आश्चर्य नहीं होगा कि हिंसा समझता है और फिर भी उसे करता है और अधिक करता है ! निश्चय ही उसके ऐसा कहने पर हमें अत्यधिक हैरानी होगी।

इसी तरह हमारे इन सुयोग्य भाइयों की भी हमें प्रशंसा करनी चाहिए। ये भी हिंसा को हिंसा समझ कर ही अपना रहे हैं और अपनाते जा रहे हैं अधिकाधिक मात्रा में। इनका दृष्टिकोण बहुत सही हो गया है। इनके हिसाब से हिंसा छोड़ने की चीज नहीं, वह तो सिर्फ समझने भर की है।

मजबूरी में, विषयों या कषायों के जोश में या आदत के वशीभूत किसी की लाचारी को स्वीकार भी करलें पर उसकी समझदारी को कैसे स्वीकार कर लें जो बिना कारण के हिंसा करते हैं और दूसरों को भी हिंसा करने के लिए प्रेरित

करते है। साहित्य प्रकाशन के व्यवहार को ही लीजिए, क्या यह किसी के लिए मजबूरी है ? क्या विपयो और कषायो के जोश में ऐसा किया जा रहा है ? फिर सहज ही त्याज्य ऐसी हिंसा को भी अपनाते जाना और न चाहने पर भी लोगो को करने के लिए प्रेरित करना, उनसे चदे मागना, उन्हें सब्ज वाग दिखाना, आखिर किस लिए ? हिंसा करने का वढावा देने के लिए या भविप्य के किसी लाभ के लिए ?

भूतकाल मे ऐसी हिंसा ये नही छोड सके उसका इन्हे पूरा दु ख है, भविष्य मे भी ऐसी हिंसा छोडने की इनकी पक्की भावना है। सिर्फ वर्तमान मे अपनी इक्छानुसार चर्खा चलाते रहना है।

गलत मान्यताएँ अनेक अनियमितताओं की कारण—भावार्थ यही है कि इस तरह के व्यवहारो को हिंसामुक्त मानने से हमारे सामने अनेक अनियमिततायें उत्पन्न हो जायेगी। फिर हम धर्म के किसी क्षेत्र मे भी नही ठहर सकेंगे। एक तरफ हिंसापूर्ण क्रिया कम होगी तो दूसरी तरफ धर्म की प्राप्ति। जैसे मुनिराज को दान देने की शुद्ध क्रिया को ही लीजिये। मुनिराज को दान देकर लाभ ले, या उन दिये जाने वाले पदार्थो को न देकर, भविष्य की कुछ हिंसा ही को कम करने का लाभ लें ? (यानी जो कुछ मुनिराज को देना चाहते है उन्हें न देकर, वचा कर अपने पास रख लें। उनोदरी तप का कहे तो वह भी शक्ति अनुसार रखते चले। जब भी खाने-पीने की आवश्यकता आ जाय, उन वचाये गये पदार्थो से जितना काम निकल सके, निकाल ले। इस तरह उतने अन्य पदार्थ व्यवहार मे लेकर जो हिंसा करते वह निश्चय ही टल जायेगी।) कहिये आत्मा क्या गवाही देती है ? मुनिराज को देने से अधिक लाभ होगा या हिंसा को कम करने से ? कम-से-कम हिंसा को अपना कर अपना कार्य चला लेने की भावना रखनेवाले इस पर अवश्य विचार करें।

हिंसा को हिंसा समझ कर आवश्यकतानुसार अपनाने वाले ऐसी सहज ही में कम की जा सकने वाली हिंसा को भी क्यो अपनाये वैठे हैं ? क्या उनकी हिंसा छोडने की रुचि नही है ? दूसरो ही से हिंसा छुड़वाना चाहते है ? हम लोगो के स्पष्ट मत मे हिंसा तीन काल मे भी स्वीकार नही की जा सकती, न उसका समर्थन ही किया जा सकता है। वह सदा के लिए बुरी है। क्रिया जब निर्मल उद्देश्य के प्रभाव से 'अहिंसा' की कोटि में आ जाती है (ठीक उसी प्रकार जिस

तरह गोवर से खाद, खाद से गन्ना और गन्ने से गुड वन जाता है) तभी हम उसे अपनाते हैं। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि जब समझदार हिंसा समझने के बाद भी उस क्रिया को करना स्वीकार कर लेते है और हम। ोतरह करने लगते हैं तो हमें आशा करनी चाहिए कि निकट भविष्य में अब और अधिक हानि होने की सम्भावना नहीं है। वर्तमान में अपनी नासमझी के कारण यदि ये गुड़ को गोवर ही समझ रहे हो तब भी न तो गुड के मिठास में कमी पड रही है और न ये गुड से दूर ही जा रहे हैं। हाँ, वे खाते हुए भी स्वाद न लें या अनमने मन से खाते हुए अपने स्वाद को ही बिगाड लें तो समझना चाहिए, यह उनकी दशा का ही फेर है।

विषय सेवन में निर्मल उद्देश्य ही असम्भव —"अशुद्ध यानी हिंसायुक्त क्रिया निर्मल उद्देश्य की ओट में कैसे उचित बताई जा सकती है ? वह अहिंसा की कोटि में कैसे आ सकती है ? कैसे उसकी भयकरता छिपाई जा सकती है और उसका समर्थन कैसे किया जा सकता है ?" इस सम्बन्ध में शका करते हुए एक अनुभवी महानुभाव ने प्रश्न किया—"महापुरुष अवतीर्ण होंगे, सत पुरुष उत्पन्न होंगे और ससार का बडा उपकार होगा—ऐसा निर्मल उद्देश्य बनाता हुआ परम पुनीत भावों से यदि मैं विषय भोग अपनाऊँ, भोगू, तो क्या मेरे ऐसे विषय-भोग उपयुक्त, हितकारी और अहिंसा पूर्ण समझे जा सकते हैं ? क्या ऐसे विषयों का समर्थन किया जा सकता है ? महान् उद्देश्य तो सबके सामने स्पष्ट ही है।"

पाठक वृन्द, प्रश्नकर्ता का प्रश्न सामने है। अपनी समझ के अनुसार अब उन्हें उत्तर देना है। प्रश्नकर्ता की खास समझ यह है कि जैसे यहाँ निर्मल उद्देश्य होते हुए भी, अशुद्ध क्रिया यानी विषय-भोग की क्रिया उचित नही कही जा सकती ठीक वैसे ही भगवान की भक्ति या अन्य धर्म कार्यों में, निर्मल उद्देश्य दिखा कर द्रव्यों का प्रयोग (जो उनकी समझ से हिंसा-युक्त है) उचित नही ठहराया जा सकता। अस्तु, उनकी समझ कुछ भी हो, बात तो यह है कि यदि उद्देश्य निर्मल हो जाय तो क्रिया की अशुद्धि रहती ही नही। वहाँ किसी भी प्रकार से क्रिया की शुद्धि अनिवार्य है। जैसे केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद, चरित्र की निर्मलता का कोई प्रश्न शेष नही रह जाता। हाँ, उद्देश्य में खोट हो या क्रिया उद्देश्य का सिंचन करने में ही असमर्थ हो और हम अज्ञानता के कारण या जान

बूझ कर उससे उद्देश्य पूर्ति होती है या हो रही है, ऐसा मान बैठे तो मामला किरकिरा होना निश्चित है। प्रश्नकर्त्ता महानुभाव के उद्देश्य मे यानी हृदय के भावो में कहाँ भूल या कपट है उसी को हम पाठको के सामने स्पष्ट करेंगे।

कोई पूछे—"साधु पद पाना अच्छा या बुरा है ?" या "मनुष्य भव पाना अच्छा या बुरा है ?" तो झट कहेंगे—अच्छा है। अब यदि कोई साधु पद पाकर अपने लक्ष्य की तरफ न बढे या मनुष्य भव पाकर भी अपनी जिम्मेवारी नही निभावे तो हम उस व्यक्ति विशेष को ही बुरा कहने के अधिकारी है। पर कभी कभी व्यवहार से कई ऐसा भी कह देते है—आखिर अन्न के कीडे ही तो ठहरे। यहाँ अन्न खाने वाले समस्त समाज पर एक आक्षेप आता है। पर यह तो हम जानते ही है कि समस्त समाज यहाँ दोषी थोडे ही है। ठीक इसी प्रकार जब आप पूछते हैं—"विषय भोग अच्छा या बुरा ? तो तुरन्त कहेंगे—"बुरा"। विषय को अपनाना भी बुरा, विषय का समर्थन करना भी बुरा। यदि मै आत्म-हत्या की दृष्टि से कूएँ में पड जाऊँ और देवयोग से बच कर खजाने सहित बाहर निकल आऊँ तो भी मेरा कूएँ मे पडना अच्छा नही कहा जा सकता। पर आगे चलकर कुछ प्राप्ति समझ यदि दुनिया कह बैठे कि चलो अच्छा ही हुआ तो कह सकती है। इसी प्रकार विषयो के बारे मे सम्भव है आगे चलकर कोई अच्छा फल प्राप्त हो जाय और दुनिया उस अच्छे फल को देखकर उस अपनाये हुए विषय को भी लाभकारी बतलाने लगे, तो अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है। जैसे तीर्थंकरो या साधु-सन्तो को देखकर दुनिया उनके माता-पिता की बडी प्रशसा करने लगती है और उन्हे धन्य-२ कहने लगती है और ऐसे नर रत्न की भेट के लिए बडा उपकार मानती है। हमारे तेरापथी भाई आज भी बडे भाव मग्न होकर गाते है—"छोगा रत्न कुक्षि की धरनी।" छोगाजी उस समय गृहस्थी में ही थी। आचार्य श्री कालुरामजी भी रत्न नही बन पाये थे। जन्मे, खेले-कूदे। रत्न तो दीक्षा लेने के बाद मे बने। फिर छोगाजी की इसमे क्या प्रशसा ?

माता-पिता भी इस उपज को अपने विषयो की करामात नही समझते है क्योकि वे जानते है कि यह तो उनकी अनजानी, अनिश्चित और अनिर्धारित प्राप्ति है। विषय का सेवन तो उन्होने स्वेच्छा से, काम वासना से प्रेरित होकर ही किया था, जो निश्चय ही बुरा था। वे तो यह भी जानते हैं कि उनकी आत्मा का उद्धार इस सुफल के उदय से ही हो गया, यह निश्चित नही है।

यहां प्रश्नकर्ता को भी सोचना चाहिए कि उन्हे अपनी विना पहुँच का उद्देश्य वनाना कैसे उचित लगा ? वालक जन्मेगा, वालिका जन्मेगी, नपुसक जन्मेगा, डाकू जन्मेगा, निर्बल जन्मेगा, या कुछ जन्मेगा भी ? ऐसी अनिश्चितता मे,"सत पुरुष उत्पन्न होगे", ऐसा निर्मल उद्देश्य बना डालना हम जैसे साधारण व्यक्तियो को आश्चर्य चकित किये विना नही रहता। कुछ भी हो, आशा तो अच्छी ही रखनी चाहिए। यह मानना पडेगा कि प्रश्नकर्ता का उद्देश्य वडा निर्मल है। सत पुरुष पैदा करके, ससार की इतनी भलाई चाहनेवाले को भला कैसे अच्छा न समझे ?

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखने मे आता है कि कई कपटी जन, दीन दु खियो के दु ख दूर करने के निर्मल उद्देश्य के बहाने, लोगो से धन ठग ले जाते है। हमें यह तो विश्वास करना ही होगा कि हमारे प्रश्नकर्ता शायद ऐसे कपटी नही है। सरल स्वभाव से ही उन्होने यह बात सोची होगी।

प्रश्नकर्ता निश्चय ही सरल हृदयी होगे, ऐसी आशा है। क्या मै प्रश्नकर्ता को पूछ सकता हूँ—"इन निर्मल उद्देश्य की ओट में आपका हेतु विषय सेवन का तो नहीं है ? विषय भोग से तो आपको पूर्ण घृणा है ? क्या आप उन साधु मुनिराज की तरह हैं, जो रसीली वस्तुओ का सेवन करते हुए भी उनका रस नही लेते ? आप सम्पूर्ण भोग नीरस भाव से ही भोगेगे ? आपकी भार्या जितने बच्चे उत्पन्न कर सकती है उससे अधिक भोग, भोगने की तो आपकी भावना नहीं है ? वे भोग भी, सिर्फ निर्मल उद्देश्य-पूर्तिके लिए अत्यन्त नीरस भाव से ही, आप भोगेगे ?" हे सौभाग्यवान ! यदि हां भरते हुए आप सत्य बोलते है तो आप नर-भव को सफल बना रहे है और हमारे आदर के पात्र हैं। आपके सद्-प्रयत्न की कृपा से, आपके जन्मे बच्चो के साधु बनने के बाद आपका कल्याण होगा या नहीं यह ज्ञानी जानें, पर ससार मे अन्य अनेको का तो भला ही होगा। यदि आप अपने उद्देश्य में सफल हुए तो निश्चय ही तीर्थंकरो या साधु-सतो के माता-पिता की प्रशसा की तरह, हम आपकी भी प्रशसा करने मे नही चूकेंगे। यदि आप असफल हुए तो भी, किसके हाथ की बात, कोई अफसोस नही। आपकी परम उत्तम भावना को लक्ष्य में रखते हुए, हम यह समझ कर सतोष कर लेंगे कि आप अधिक घाटे से तो बचे। आपने कम-से-कम, बहुतो से तो अनेक गुणा ज्यादा विषय भोगो को छोडा और जो अपनाने पडे उनमें भी नीरस भाव रखा। आपका निर्मल उद्देश्य आपको ठीक रास्ते पर ही ले गया। आपके विषयो मे कमी ही आई। पर हे देवानुप्रिय !

हमें यह तो बतलाइये कि जब विषय भोग में आपका इतना नीरस भाव है तो आप उन्हे भोगेंगे कैसे ? भोग ही न भोग सकेंगे तो आपको पुत्र-रत्न की प्राप्ति कैसे होगी ? यदि कहें—"मुनिराज नीरस भाव से आहार कर सकते है तो, मैं नीरस भाव से क्यो न भोग सकूगा, या यो कहे—जल्दबाजी मे मैंने नीरस भाव स्वीकार कर लिया था, निर्मल उद्देश्य की पूर्ति के हेतु, उस समय के लिए तो मैं सरस होकर जुट जाऊँगा।" हमारा यही कहना है कि 'आहार करना' और 'विषय-भोग भोगना' एक समान नही है। इनमे काफी अन्तर है। आहार से मुनिराज के महाव्रत भग नही होते पर विषयो से भग हो जाते है। आहार तो सूजता (दोष रहित) प्राप्त भी किया जा सकता है, पर विषय-भोग कही सूजते प्राप्त नही किये जा सकते। आहार का सेवन तो मुनिराज करते ही है और कर भी सकते है पर विपयो का नही। अस्तु, इस विषय पर तो आप फिर कभी और अधिक सोच लेना। रही जल्दबाजी मे स्वीकारोक्ति की बात, सो इसमे कोई खास बात नही। आप अपने विचारो के परिवर्तन मे स्वतत्र हैं। हमारा तो ध्येय ही आपके विचारो में परिवर्तन लाने का है। अब मैं आपको फिर एकबार और पूछ रहा हूँ कि आप अपने निर्मल उद्देश्य मे तो मजबूत हैं ना ? विपयो को आप इसीलिये अपना रहे हैं कि इससे आपको तीर्थंकर, साधु-सन्त उत्पन्न करने का लाभ मिलेगा। लाभ न भी मिले पर आपके हृदय के भाव तो ठीक यही है ? आपकी निर्मल भावना तो यही है कि आप सत पुरुष उत्पन्न करने का लाभ लेना चाहते है। परन्तु क्या आप बतला सकते हैं कि जब आप साधु पद का इतना महत्व समझते है फिर आपने साधु होना क्यों नही चाहा ? आपके साधु ही उत्पन्न होगे यह तो पूर्ण निश्चित भी नही है पर आपका साधु बनना तो शत-प्रतिशत आपके हाथ में ही था। कम-से-कम तीर्थंकर न तो न सही एक मुनिराज तो हमे निश्चय पूर्वक प्राप्त हो ही जाते। निश्चितता को छोड कर इस अनिश्चितता को अपनाने से आपका क्या मतलब? क्या आपको इसमे अल्प लाभ जान अच्छा नही लगा ? क्या उससे आपके उद्देश्य की पूरी पूर्ति नही हो रही थी ? 'यह लाभ बच्चो को ही मिले तो अच्छा', क्या आपकी ऐसी उदार भावना ने आपको रोका ? पर हे अधिक लाभ की आशा में सब कुछ खोने वाले मेरे उदार सज्जन ! आपने कभी यह भी सोचा कि आपकी इस उत्तम भावना की देखा-देखी ऐसा ही उद्देश्य यदि

आपके उत्पन्न होने वाले बच्चो ने भी अपना लिया तो क्या आपके वश में कभी कोई साधु उत्पन्न हो सकेगा ? कोई विषयो का त्यागी भी बनेगा ? निर्मल उद्देश्य की ओट मे भला इस तरह कही विषयो का शिकार खेला जा सकता है । विषय-वासना से न तो किसी का निर्मल उद्देश्य बना है, न बन सकता है । क्योकि वहाँ तो हमारी सम्पूर्ण इच्छा भोग ही की रहती है ।

पाठक वृन्द, क्या यहाँ किसी का निर्मल उद्देश्य बन सकता है ? क्या यहाँ प्रश्न कर्त्ता का उद्देश्य निर्मल है ? यदि नही, तो कहाँ द्रव्यो के प्रयोग से प्रभु-पूजा मे हमारी उज्ज्वल भावना, कहाँ विषय-सेवन में यह कलुषित मनोवृत्ति !

द्रव्यो के प्रयोग को पाप-पूर्ण समझने वाले महानुभाव अपने बचपन के जीवन को याद कर, इसे ठीक से समझे और अपनी इस गलत मान्यता में सुधार करे ।

बचपन को याद करें —एक महीने का जन्मा बच्चा हमारे सामने है । उसकी भलाई किसमें है ? हम सभी एक मत होकर कहेंगे कि इस जीव का भला तो भगवान के निर्मल धर्म को धारण करने से ही हो सकता है । बात तो हमने बडे पते और मार्के की कही, पर आगे चलकर धर्म को धारण करने में सक्षम होने पर भी वर्तमान मे यह प्राणी धर्म को धारण करने में बिल्कुल असमर्थ है । सम्प्रति यह लाचार हालत मे दोनो हाथ ऊँचा करके हमारे सहयोग के लिए करुणा भरी प्रार्थना ही कर रहा है। यह जानते है कि उसकी यह प्रार्थना गलत नही है । जीव महान् पुण्यशाली है । धर्म को धारण करने की सक्षमता को लेकर ही जन्मा है । भविष्य में अपने चरित्र को पल्लवित करता हुआ, अनेको का उपकार करने वाला, अनेको को सन्मार्ग पर पहुँचाने वाला और बुढापे मे कइयो को धर्म का सहयोग देने वाला जीव भी हो सकता है यानी समय पर उऋण होने वाला जीव है, पर अभी इसे सहयोग की परम आवश्यकता है ।

ऐसा जानते हुए भी हम ऐसे समय में उसके प्रतिपालन को जिसमें उसका खाना-पीना इत्यादि-२ सम्मिलित है, पाप समझें, हिंसा समझे, बुरी समझें और ऐसा समझते हुए न अपनावे ? यदि प्रतिपालना अनुचित समझते हो, पाप पूर्ण समझते हो या हिंसा पूर्ण समझते हो तो क्या उसे नवकार सुनावें, सथारे का प्रत्याख्यान करावें, चार शरणें सुनावें अथवा सम्प्रति धर्म ग्रहण का पात्र न होने के कारण उससे खमत-खामणा करते हुए उसकी तरफ से अपनी आँखें ही फेर लें और उसे अपने भाग्य पर छोड दें ? प्राणीमात्र का कल्याण चाहने वाले हे

दयावन्त! हमारा यहाँ क्या कर्त्तव्य है, और किसमें हमारा भला है? मान-लीजिए आपके उपदेशानुसार प्रतिपालना में पाप समझते हुए, अथवा अपने जीवन की नश्वरता को ही ध्यान में रखते हुए, अपने हित के लिए ही हम उससे किनारा कर ले, पर सम्प्रति इस जीव का कल्याण, जीवन और मरण की दो गतियो में से, किस गति में और किन उपायो से आप समझते है? कल्याण बतलाने में आपके कोई बाधा आती हो तो उसकी हानि किसमे अधिक है यही समझा दीजिए।

आप कुछ भी कहे अथवा न कहें यह प्रकाशवत् सत्य है कि जीवित रहता हुआ, कुछ समय बाद अवसर पाकर ही यह जीव अपना कल्याण कर सकता है। यद्यपि यह भी निश्चित नही है कि अवसर मिलते ही वह अपने कल्याण के मार्ग को पकड ही लेगा पर इतना तो निश्चित है कि मर जाने से सम्पूर्ण कल्याण का मार्ग कुछ समय के लिए उसके हाथ से निकल जायेगा। भाग्योदय से भविष्य में जब कभी उसे मनुष्य भव प्राप्त होगा, तब भी कुछ प्राप्त करने के लिए बडा होना तो उसके लिए अनिवार्य ही रहेगा। अत यह शतप्रतिशत निश्चित हुआ कि वर्तमान में उसके कल्याण के मार्ग का सम्बन्ध यदि है तो उसके जीवित रहने ही से है, मरन से कदापि नही। अपने परम कल्याण के लिए जब उसे जीवित रहना जरूरी है और कम से कम बिना खान-पान के वह जीवित नही रह सकता तब खान-पान को तो अपनाना ही उसके लिए उचित है। तथ्य आपके सामने स्पष्ट है। अब सोचिये जन्मकाल से लगा कर उस सुनहरे सुअवसर पाने तक के बीच के उपयुक्त समय के भीतर ही वह कितना अन्न खायेगा, कितने कच्चे पानी का उपयोग करेगा? क्या यह अनर्थ होगा? क्या उसका वह कदम गलत होगा? गलत मानते हैं तो हे ज्ञानवन्त! उसका कौन-सा कदम सही होता, समझाइये। सौभाग्यवान! इस कदम के सिवाय जब उसके लिए दूसरा कोई कदम ही नही है और यही एक कदम है जिस पर उसके भविष्य का सारा हित आधारित है, फिर दयासिन्धु, उसे आपने पाप-पूर्ण बताकर क्यो भूल की? गहराई से समझिये। जब उसका परम आत्महित इसी कदम पर ही पूर्ण-तया आश्रित है, तब उस कदम में सहयोग देनेवाले उसके माता, पिता या स्वजन न्याय की दृष्टि से ही नही सत्य की दृष्टि से भी बिल्कुल ठीक हैं, और तब यह द्रव्यो का उपयोग कभी अनुचित नही कहा जा सकता।

आप और हम कभी छोटे ही थे। यदि कोई मतिमन्द हमारे माता पिता को

बहका देता कि ऐसी प्रतिपालना मे जीव-हिंसा और मोह की पुट प्रत्यक्ष है और कर्मों का बन्धन होकर पाप लगता है तथा वे बहकावे में आकर हमारी प्रतिपालना मे हाथ खींच लेते तो शायद हमारा प्राणान्त भी हो जाता। यदि हमारा प्राणान्त ही हो जाता तो यह सुअवसर जो आज हमे मिल रहा है, मिलता ? क्या हमारे माता पिता ने या हमने भूल की ? ऐसी हिंसा अपनाकर क्या आज हम घाटे मे रहे ? आप अपनी आत्मा से केवल इतना प्रश्न कीजिए कि कोई भी जीव हिंसा छोडकर लाभान्वित होता है या हिंसा अपना कर ? फिर जिस व्यवहार को अपना कर हम आज लाभान्वित हो रहे है या हमारे अनेक पूर्वज लाभान्वित हुए हैं उसे हिंसा कैसे माने ? यदि मानने का आप हठ करेंगे तो आपको यह भी मानना होगा कि भविष्य के लाभ के लिए, हिंसा अपनानी जरुरी है या हिंसा ही से भविष्य का लाभ मिल सकता है। यानी हिंसा का आपको समर्थन करना ही पडेगा। यदि हिंसा समझ कर उस व्यवहार को न अपनाते तो क्या यह अमूल्य लाभ आज आपको मिलता ? हमने बार-बार इस प्रश्न को इसीलिए दुहराया है कि इस व्यवहार को हिंसा-पूर्ण कहना, महान् अहितकारक, भारी अज्ञानता का द्योतक, अव्यावहारिक और जैन मान्यता की शुद्ध परपरा को ससार मे नीचा दिखाने का कारण है। इससे जन साधारण पर अकारण विपरीत प्रतिक्रिया होती है और व्यर्थ मे मिथ्यात्व बढता है।

यदि यह कहे कि, प्रत्येक महापुरुष यह रास्ता तय करके ही आगे बढे हैं, पर यह कोई निश्चित नही कि जन्म लेने वाला प्रत्येक बालक आगे चलकर सही रास्ते का ही पथिक बनेगा। बल्कि देखा तो यह जाता है कि बडे होकर बालकों की बहुत अधिक सख्या तो विपरीत दिशा में ही चली जाती है। ऐसी स्थिति में यह लालन-पालन या बडा होना हानि का ही कारण हुआ। आधिक्य को देखते हुए उसे पाप न कहे तो और क्या कहे ? पाप को तो पाप मानिये। हो सकता है कोई उसे धोने में समर्थ हो जाय, धो डाले और कोई न धो सके। पर पाप को तो 'पाप' कहना ही उचित है।

यही आप समझने की भूल कर रहे है। इसका अर्थ यह हुआ कि आप मनुष्य-भव को भी अच्छा नही कह सकेंगे तो क्या आप मानते है कि किसी जीव का मनुष्य-भव पाना बुरा है ? यदि नही, तो कौन बालक गलत रास्ते जायेगा और कौन सही रास्ते, हम केवली तो हैं नही कि इसका निर्णय पहले ही कर लें।

हम तो प्रत्येक बालक से यही शुभाशा रखते हैं कि आगे चलकर वह भगवान का मार्ग प्राप्त करेगा, धर्म का उद्योत करने वाला बनेगा, अवसर पाकर हमे भी धर्म का सहयोग देगा और अपने अमूल्य मनुष्य भव को सफल बनायेगा। महा-पुरुष आखिरकार इन बच्चो ही मे से अवतीर्ण होते है। एक भी नर-रत्न सूर्य के समान, ससार मे उजाला करता हुआ प्रत्येक की आँख में रोशनी डाल सकता है। फिर यह उपेक्षा कैसे की जा सकती है? हाँ, भावो को ठीक रखने की, आप चाहे, कह सकते हैं। जैसे एक ही मुनिराज को दान देते समय एक जीव तो महान् धर्म की प्राप्ति कर लेता है, एक कुछ नही कर पाता। एक द्वेष बुद्धि से उल्टे कर्म ही बाध लेता है, पर इसमें निमित्त को बुरा या अनुपयुक्त नही कहा जा सकता। व्यापार मे लाभ भी होता है और हानि भी पर उससे सम्वन्धित उचित खर्च को हम, कमी का कारण मानते हुए भी अनुचित कैसे समझ सकते हैं?

हम यह मानते है कि अनेक बालक वडे होकर सही रास्ता नही अपनाते या हम सभी के जीवन में थोडी बहुत बुरी प्रवृत्तियाँ उदय में आ जाती है पर इसका मतलब यह नही कि किसी में गुणो का विकास होता ही नही। अच्छाई का ध्यान, न रखकर किसी थोडी कमी को देख कार्य न करना या बुरा समझ कर करना, अपने ही हाथो से अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारने जैसी भूल है। पौधा सीचा जाता है फूलो के लिए, काटो के लिए नही। यह हम जानते है कि सीचने से काटे भी पनपते है, कइयो मे फूल भी नही आते पर उन काटो को पनपते देख या कइयो मे फूल आते न देख क्या हम उन्हें सीचना बद कर दें? क्या फूलों का ध्यान ही छोड दें? यदि हम फूलो को अच्छा समझते हैं यानी मोक्ष प्राप्ति को अच्छा समझते है—और उन्हें प्राप्त करना तथा दूसरो को भी प्राप्त कराने में सहारा देना चाहते है तो हमे इन पौधो को सीचना ही पडेगा। तभी हमारे उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। आपकी समझ मे इतनी ही कमी है कि आप काटो के साथ सीचने को ही बुरा बतला रहे हैं। यही आकर आप सारे गुड को गोबर कर डालते हैं।

फूलो की प्राप्ति तो अच्छी और उनकी प्रतिपालना के उद्यम को, उन्ही के साथ उत्पन्न होने वाले काटो को दिखा-दिखा कर बुरा बतलाने वालो की निर्मल बुद्धि का पाठक गण स्वय ही मूल्याकन करे!

इसी प्रकार श्रावक पद या साधुपद को प्राप्त करना तो बहुत ही अच्छा है

और वालक का वडा होना या वडे होने में सहायता देने को पाप-पूर्ण समझना, यह है नवीन मत वालो की नवीन खोज !

यदि कहा जाय—"वालको की प्रतिपालना को जव इतनी अच्छी मानते हैं तो विषय भोग को अच्छा क्यो नही माना ? यहाँ तो, वच्चे वडे ही किये जाते हैं वहाँ तो वच्चे उत्पन्न किये जाते हैं। वच्चो का भला, वुरा होना तो दोनों ही जगह भविष्य पर निर्भर है। पौवे का वीज वपन और प्रतिपालना क्या दोनो समान महत्वपूर्ण नही है ?"

वात जरा विचारणीय है। निश्चय ही पौवे मे शुरु से अन्त तक सभी क्रियाए समान महत्वपूर्ण है और सभी मिलकर हमारे उद्देश्य की पूर्ति करती है। पौधे से सम्वन्वित हमारी सभी क्रियायें प्राय निश्चित होती हैं। किन्तु हमारी विषय वासना का विषय थोडा भिन्न है। सर्वप्रथम वहाँ हमारे सामने कोई निश्चितता नही होती और हमारा सारा मनोभाव अपने विषय-सुख से ही सम्वन्वित होता है। स्थिति में कितना अन्तर है यह चिन्तनीय है। उपमा, उपमेय की समानता का यह अर्थ नहीं होता कि उनमें सभी गुण समान ही होगे।

अस्तु, यदि हमें वालको को मोक्ष-मार्ग की तरफ वढने मे सहायता देनी है, यदि हमे उन्हे जिनराज भगवान के शासन का रसिक वनाना है तो अपनी शक्ति के अनुसार हर प्रकार से उनकी प्रतिपालना तो हमें सर्व प्रथम करनी ही होगी। विना इस अवलम्व के न तो आगे कभी कोई अपने उद्देश्य मे सफल हुआ है, न अभी कोई हो रहा है और न भविष्य मे कोई होगा ही। द्रव्यो के प्रयोग को विना सोचे समझें हर जगह पाप-पूर्ण मानना वडी-से-वडी नादानी है।

मुनि के व्यवहारों के समान हमारे व्यवहार भी उचित—मुनि महाराज का किसी जीव को मारने का भाव नही होता, अपनी आत्म साधना ही से उनका सम्पूर्ण मतलव होता है। फिर भी सयोगवश कोई मर जाता है तो उसके लिए वे लाचार है। चलना-फिरना छोडना या कम करना उनके सामर्थ्य की वात होते हुए भी आत्म-सावना एव भविजीवो के उपकार की दृष्टि से, वे भी अपनाते हैं। इसी प्रकार मूर्ति-पूजा में भी हमारा परम लक्ष्य आत्म-सावना ही है। वहुत से व्यवहार अपनाने भी पडते है तो मुनिराजो के व्यवहारो के समान ही समझे जाने चाहियें। उनकी तुलना में तो हम वहुत ही कमजोर हैं इसलिए हमें उनसे भी अधिक व्यवहारों का सहारा लेना पडे तो भी अनुचित नही कहा

जा सकता। जैन धर्म तो अपेक्षा से सब कुछ स्वीकार करता है। यही इसकी महानता है। भाव अशुद्ध हो तो मुनिराज भी नरक मे जा सकते है, भाव शुद्ध हो तो अन्य लिंगी को भी मोक्ष-प्राप्त हो सकता है। कितने विशाल हृदय की बात है। जैन धर्म कितना गुणानुरागी है। मनुष्यो को ही क्यो भावना शुद्धि का अधिकार तो प्राणीमात्र को है। हिंसा करता हुआ सिंह विना हिंसा करते हुए तदुल मच्छर से वहुत ऊँचा स्थान रखता है। यहाँ अत मे हमारा इतना ही कहना है कि मूर्ति-पूजा को हिंसायुक्त समझ कर वुरा मानना कदापि उचित नही।

प्रतिमा को नहलाना, घोना कैसे उचित ?

कई लोगो को शका है कि—"जब परमात्मा की मूर्ति को परमात्मा के समान समझ लेते है तब उसको कच्चे पानी से नहलाना, धोना, फूल चढाना आदि कैसे उचित ठहर सकता है जव कि खुद परमात्मा ने ऐसी वस्तुओ को अपने सयमी जीवन में छूना तक स्वीकार नही किया।"

पहले ही कह चुके है कि मूर्ति आखिर मूर्ति ही है। वह तो परमात्मा का स्मरण मात्र दिलाती है। उसको हमने अपने मन के सहारे के लिये स्थापित किया है। मन को कैसे सहारा मिलेगा और कैसे लाभ पहुँचेगा, यह हमे ही सोचना है। परमात्मा मे किस प्रकार हमारा अनुराग बढ सकता है हमे उसी मार्ग का अवलम्बन लेना है। आखिर हम सासारिक प्राणी है।

उदाहरणार्थ, आज भी ऐसी शका करने वालो के या हमारे ही कोई मुनिराज या आचार्य महाराज देवलोक हो जाँय तो हम उनकी मृतक देह का कितना सम्मान करते हैं। धूमधाम के साथ अर्थी को सजा कर, घूमते-घुमाते, जय-२ कार करते, रुपये-पैसे उछालते अत्यन्त सम्मान के साथ उनकी अन्त्येष्ठि करते है। विचारणीय है कि क्या मुनिराज ने अपने जीवन मे कभी ऐसी सजावट अपने लिए स्वीकार की थी ? क्या वे इस तरह के द्रव्यो के त्यागी नही थे ? फिर उनकी मृतक देह का इस प्रकार वहुमान क्यो ? मृतक देह को सजाने के लिए किन भावो ने हमें प्रेरित किया ? जितनेवडे आचार्य या मुनिराज उतनी ही अधिक सजावट। निश्चय ही यह उन्ही के गुणो का आकर्षण है जो हमे उस ओर खीच ले जाता है। चाहे इसमें भी कई पाप समझें, पर विना कारण कोई भी पाप करने को क्यो उद्यत होगा ? फिर ऐसा कौन निठल्ला होगा जो एक महान् आचार्य के निमित्त अधिक

पाप को मोल ले ? क्या इसमें पाप समझने वाले कह सकते हैं कि अपने जीवन निर्वाह के निमित्त इस पाप को करना अनिवार्य है ? क्या वे कह सकते है कि विषयो या कषायो के जोर के कारण वे इस पाप को रोकने मे असमर्थ है ? क्या वे कह सकते हैं कि आदत के वशीभूत लाचारी मे उन्हे यह पाप अपनाना पड रहा है ? क्या वे बता सकते हैं कि इस पाप को रोकना अच्छा नही है और इस पाप को उल्लास के साथ उन्होंने स्वीकार नही किया है ? यदि उन्होंने हृदय के अत्यन्त उल्लास के साथ इसे स्वीकार किया है तो पाप को पाप समझने के बाद भी उसमें इस तरह तन्मयता मे प्रवृत्त होना और वह भी एक ऐसे ठिकाने जिसे हम धर्म का केन्द्र-बिन्दु कहते हैं, यह क्यो ? फिर पाप को पहचानने की प्रखर समझ-दारी किस काम आई।

उत्तर कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि यह सम्मान उस मृतक देह का नही। मृतक देह तो जब तब प्राप्त होती रहती है, उसका इतना बहुमान थोडे ही किया जाता है ? यह सम्मान तो उस देह मे रही महान् आत्मा के गुणो ही का है। तब क्या गुणो का राग भी बुरा होता है ? क्या गुणो के राग से भी पाप होता है ? यदि नहीं, तो यहाँ प्रत्येक व्यवहार मे सोलह आना धर्म ठहरा। कारण प्रत्येक व्यवहार गुरु महाराज के गुणो के राग ही से बना हुआ है।

यदि यह कहे कि अब तो गुरु महाराज रहे नही। वे तो स्वर्ग पधार गये है। अब तो मृतक देह रह जाने से बात ही दूसरी हो गई तो हमारा यही कहना है कि अब तो अरिहंत भगवान रहे नहीं। अब तो वे स्वर्ग मे भी आगे मोक्ष पधार गये। गुरु की मृतक देह हो जाने के कारण, यदि बात ही दूसरी हो गई, तब तो यहाँ मूर्ति होने के कारण बात दूसरी ही नही, तीसरी हो गई।

यदि कोई गुरु के बहुमान के निमित्त पाप कर सकते है और वह भी बडी रुचि से तो उनके गुरुओ के गुरु अरिहंतो के लिए उनके जी में क्या बाधा है ? हिंसा को हिंसा समझते हुए, अपनाने की बुद्धिमानी तो यहाँ भी दिखाई जा सकती है। यहाँ भी अपने परम पिता परमात्मा का ही बहुमान बढता है। यदि यह कहे कि अन्त्येष्ठि की तरह यह क्रिया जरूरी नहीं है तब गुरु की अन्त्येष्ठि मे भी ठाठ-बाट की क्या जरूरत है ? इतनी अधिक सख्या मे इकट्ठे होकर पीछे-२ जाने की क्या जरूरत है ? क्या साधारण तौर पर उनकी अन्त्येष्ठि नही हो सकती ? ससार में देवलोक हो जाने वाले अन्य अनेको की क्या इतने ही ठाठ-बाट से अन्त्येष्ठि

हुआ करती है ? जब गुरु ही नही रहे, बात ही दूसरी हो गई, वह देह वदनीय ही नही रही फिर किसके पीछे दौड लगाई जा रही है ? मूर्ति से यदि किसी प्राप्ति की आशा नही है तो मृतक देह से किस प्राप्ति की आशा है ? फिर यह ठाठ-बाट किसलिए ? क्या पाप बाधने के लिए ? गुरु के उपदेशो का हाथो-हाथ यह फल निकाला ? दो घटे बैठकर सामायिक करते । अन्त्येष्टि तो दस-पन्द्रह व्यक्तियो द्वारा ही साधारण तौर पर सम्पन्न हो जाती । यदि कहे कि यह तो सासारिक धारा है तो समझ लीजिए हम भी ससार मे बाहर नही है ।

मूर्ति के सम्मान का कारण, परमात्मा के गुणो मे रही हमारी प्रगाढ भक्ति ही है । अवस्थाओ के बदल जाने से सम्मान के तौर-तरीके भी बदल सकते है। इसलिए मूर्ति के साथ और स्वय भगवान के साथ, सम्मान के तरीको में अन्तर आ सकता है । आज भी मुनिराज की मूर्ति की पूजा हम जिस ढग से करते है उनके उपस्थित रहने पर भी उसी ढग से उनका बहुमान कभी नही किया जाता। किस अवस्था मे कौन सा व्यवहार काम मे लेना चाहिए यह तो हमे विवेक से पहचान कर ही स्थिर करना पडता है ।

प्रतिमा बनानेवाले को बड़ा क्यों नही मानते ?

कई ऐसा तर्क करते है कि मूर्ति से तो मूर्ति बनानेवाला और भी बडा होना चाहिए फिर अधिक लाभ के लिए मूर्ति के बजाय उसे ही क्यो न पूजा जाय ।

असल मे मूर्ति तो पूजी नही जाती । पूजे जाते है परमात्मा के गुण मूर्ति तो मन मे भक्ति उत्पन्न करने का केवल एक आधार है । वस्तु से वस्तु बनाने वाला अधिक लाभ देगा ऐसी धारणा रखना सरासर भूल है । ऐसा ही सम्भव हो, तब तो चश्मे से, चश्मा बनाने वाले को अधिक बडा मानना पडेगा । तब क्या अधिक लाभ के लिए आँख के आगे चश्मा न लगाकर, उसके बनाने वाले को लगावे ? क्या तब अधिक दिखाई देने की आशा है ? सोचिये, मूर्ति या चश्मे का काम उन्ही से निकलेगा, उनके बनाने वालो से नही ।

खंडित प्रतिमा अलग क्यों रख देते हैं ?

ऐसा ही एक तर्क और सुनने मे आता है कि,"मूर्ति को जब परमात्मा के समान समझ ली जाती है तो उसके खडित होने के बाद उसे अलग क्यो रख देते हैं ?

घर के किसी सज्जन का अंग-भंग हो जाय तो क्या उसे घर से निकाल देंगे ?"

इन प्रश्नो से पता चलता है कि प्रश्नकर्ता को या तो उपमा और उपमेय का ज्ञान नही है या जानबूझकर भोले भाइयो को भरमाने के लिए ऐसा तर्क करते है। खैर, मूर्ति जिनराज भगवान के समान इस आशय से मानी गई है कि जिस प्रकार स्वय परमात्मा को देखने से उनके गुण याद आते है और मन मे श्रद्धा, बहुमान एव शान्ति की लहर दौडती है उसी प्रकार उनकी मूर्ति को देखकर उनके गुण याद आते हैं और मन मे वैसी ही शान्ति की लहर उत्पन्न होती है। इसी गुण विशेष की समानता की दृष्टि से, परमात्मा की मूर्ति को, परमात्मा के समान कहा गया है न कि उनके स्थूल शरीर की समानता की दृष्टि से। किसी के मुख को चन्द्रमा के समान बताने का यह अर्थ नही कि उसके मुख से चन्द्रमा के समान प्रकाश भी होता है। यदि ऐसा ही होता तब तो धरती पर चन्द्रमा ही चन्द्रमा हो जाते और फिर अमावस्या नजर ही नही आती। एक भगवान की अनेक मूर्तियाँ बना देने से, अनेक भगवान उत्पन्न हो गये, ऐसा नही माना जा सकता और न किसी मूर्ति के खडित हो जाने से ऐसा ही माना जा सकता है कि भगवान का कोई अग खडित हो गया। जैसा यह तर्क है उन महानुभावो की समझ में यह आ जाना चाहिए कि भगवान् का पूरा शरीर बनाने की क्षमता जिनमें मौजूद है वे किसी भी कमी को रहने ही क्यो देंगे ? प्रश्नकर्त्ता भी अपने स्वजन के अग-भग को तो सुधार कर ही छोडेंगे यदि उनकी पहुँच उस सुधार तक हो।

वस्तुत मूर्ति जब तक परमात्मा के उचित स्वरुप का प्रदर्शन करती है तभी तक हम उसे काम मे लेते हैं।

साक्षात् भगवान समझ, मन को कैसे धोखा दें ?

प्रश्न किया जाता है, "जब हम अच्छी तरह जानते है कि भगवान तो मोक्ष पधार चुके तब उनकी मूर्ति को साक्षात् भगवान् समझ कर मन को कैसे धोखा दें और मन कैसे स्वीकार करे कि यह परमात्मा ही हैं।'

मनुष्य की यही विशेषता है कि ज्ञान और विवेक से वह अपनी हर पहेली को हल कर लेता है। जब हमें बीजगणित की किसी समस्या (प्रोब्लम) को हल करना हो तो पहले ही उसका उत्तर हम क, ख, ग इत्यादि मान लेते हैं, यह जानते हुए भी कि प्रश्न का यह सही उत्तर नही है। ऐसा क्यो करते हैं ? क्या ऐसा

मान लेने मे दोष है ? नही, ऐसा मान लेने में हमारा लाभ है। ऐसा मान कर चलने से हम अपने प्रश्न के सही उत्तर को पा लेते है। ठीक इसी प्रकार मूर्ति को परमात्मा के तुल्य मान लेने से, हम अपने मन पर, इच्छित असर को अधिक गहरा बनाने मे समर्थ हो जाते हैं।

किसी जगह कोई वात होते हुए भी "है ही नही" ऐसा भी मान लेते है, जैसे अत्यन्त वेदना होने पर भी सयमी अपने मन में यही अनुभव करते रहते है मानो कुछ है ही नही। जीती जागती रूपवती स्त्री को सत पुरुष ऐसे देखते है जैसे कोई वेजान स्त्री ही हो। यह सव हमारे विवेक पर निर्भर है। यह मन को धोखा देना नही है। वह सही रास्ते पर वना रहे, यही हमारा ध्येय रहता है। इसीलिए प्रतिमा को साक्षात् भगवान समझ कर कुछ आत्म-साधना का प्रयत्न किया करते है।

धर्म और पाप दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ?

कई व्यक्ति ऐसा सोचते है—"पूजा से धर्म या पाप दोनो कैसे हो सकते हैं ? पूजा से या तो धर्म होगा या पाप। पाप तो सामने ही दीखता है फिर धर्म का लेखा ही क्या ?"

निर्मल उद्देश्य होने के कारण, पूजा में द्रव्यो के प्रयोग से तो कोई भी पाप नहीं होता, रही मन के भावो की वात। भावो के अनुसार फलाफल होना निश्चित ही है। जो सोचते है कि एक समय मे धर्म और पाप दोनो नही हो सकते उन्हे पहले 'समय' को समझना चाहिए। 'समय' का इतना सूक्ष्म स्वरूप है कि उसका अनुमान लगाना हमारे लिए अति कठिन है। ज्ञानी पुरुपो का कथन है कि पलक झपकने तक असख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। मुनि महाराज के व्याख्यान को ही लीजिए, उपदेश से जो हमारा सुधार होता है वह तो हमारी धार्मिक वस्तु हुई। इधर-उधर बहनो पर बुरी नजर पडी या अपने सगे सम्बन्धियो से व्यर्थ वातें की, वह हमारा पाप हुआ। एक ही व्याख्यान मे धर्म भी हुआ और पाप भी। एक व्याख्यान मे दोनो कैसे हुए ? जैसे व्याख्यान एक होने पर भी असख्य समयो वाला होता है उसी प्रकार पूजा भी अनेक समयो वाली होती है। भावो के अनुसार धर्म और पाप दोनों ही होते रहते हैं। द्रव्यो के प्रयोग को कोई हिंसा मान भी ले तो भी परमात्मा के गुण ग्राम को तो वे भी धर्म मानेगे। फिर

पूजा का प्रधान अग तो परमात्मा के गुणग्राम से ही सम्बन्धित है। अत उपरोक्त शका 'समय' की सूक्ष्मता को न समझने ही के कारण है।

श्रावको के लिए धर्म, फिर साधु द्रव्य-पूजा से दूर क्यों ?

कई लोगो का कहना है, "मूर्ति-पूजा मे द्रव्यो के प्रयोग से यदि श्रावको को धर्म होता है तो साधु द्रव्य-पूजा से दूर क्यो रहते हैं, क्या उन्हे धर्म करना अभीष्ट नही है ? उन्हें धर्म प्राप्ति तो दूर, उसे अपनावे तो उल्टा पाप लगे। ऐसा हम ही नही कहते वे स्वय स्वीकार करते है। जब उन्हें पाप लगता है तब श्रावको को धर्म कैसे हो सकता है ?"

वस्तुत मूर्ति-पूजा तो मन के सहारे के वास्ते है। जिसको जितना और जैसे सहारे की आवश्यकता होती है, वह उतना और वैसा ही सहारा लेता है। अपनी-२ शक्ति तो स्वय को ही परखनी है। निश्चित है कि केवली होने के बाद भगवान के नाम के सहारे की आवश्यकता नही रहती और न वे, उस नाम को फिर जपते ही है। जीव को शुक्लध्यान की प्राप्ति के बाद धर्म-ध्यान की आवश्यकता नही रहती और न फिर वह धर्म-ध्यान अपनाता ही है। इसी तरह सिद्ध अवस्था प्राप्त होने के बाद, मनुष्य देह की भी आवश्यकता नही रहती और न वे उसकी कामना ही करते है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि भगवान का नाम जपना, धर्म-ध्यान करना या मनुष्य शरीर पाना दूसरो के लिए भी बुरा या अनावश्यक है। जिन्हें इनकी जरुरत है उनके लिए तो ये बहुत कुछ हैं। चश्मे की जरुरत आँख की कमजोरी से है। जिसकी आँख ठीक है उसको चश्मे की क्या आवश्यकता ? सिद्ध भगवान को मनुष्य-भव की प्राप्ति हानिकारक ही रहेगी पर हमारे लिए तो मनुष्य भव जो कुछ है वह सबके सामने ही है। बुखार की दवा तो बुखार वाले के लिए ही अच्छी है। स्वस्थ के लिए वह किस काम की ? यदि बिना आवश्यकता के कोई चश्मा या औषधि का उपयोग करता है तो उससे उसको हानि ही पहुँचेगी। इसी प्रकार भावस्थ मुनिराज को, ऊँचे पहुँच जाने के कारण, द्रव्य-पूजा की आवश्यकता नही रहती और यदि वे अपनावें तो उन्हें हानि ही होगी।

तपस्या करने वाले मुनिराज, आहार का त्याग यह समझ कर नही करते हैं कि आहार करने में पाप है बल्कि वे आहार को त्याग कर और भी ऊँची कोटि में जाना चाहते हैं। मौन लेने वाले मुनि, इसलिए बोलना या व्याख्यान देना नही छोडते

है कि इनमें पाप है बल्कि इसलिए कि वे और भी ऊँची श्रेणी मे पहुँच जाँय। ध्यान में लीन मुनिराज, यह जानते हुए भी कि मन्दिर जाने में धर्म है, महीनो इसलिए मन्दिर नहीं जाते हैं कि ऊँची श्रेणी में पहुँचने के कारण वे उससे भी अनेक गुणा अधिक लाभान्वित है। लाख दो लाख का उपार्जन करने वाला व्यापारी पाँच, दस रुपये के उपार्जन को लाभ का काम समझते हुए भी, उसे नही अपनाता क्योकि उससे भी अनेक गुणा अधिक मुनाफा उसे मिल रहा है। आखिर काम मुनाफे से है। थोडा मुनाफा अधिक मुनाफे के सामने व्यवहार मे घाटे का ही काम समझा जाता है। अधिक मुनाफे को छोड न तो कोई कम मुनाफा अपनाता है, न उसका अपनाना ही उचित कहा जा सकता है।

द्रव्य-पूजा किसी हद तक परमात्मा में अनुराग उत्पन्न करने के लिए और द्रव्यो में आसक्त प्राणियो की आसक्ति कम करने के लिए है। परमात्मा के गुणो के पूर्ण रागी और द्रव्यो की आसक्ति से बिलकुल परे जो भावस्थ साधु बन गये है वे इतने ऊँचे पहुँच जाते हैं, इतने आगे बढ जाते है कि द्रव्य-पूजा जैसी लाभ पहुँ-चाने वाली क्रिया तो उनकी उस उच्चता के सामने, अत्यन्त निम्न श्रेणी की क्रिया रह जाती है। अत' द्रव्य-पूजा मुनिराजो की उच्चता की अपेक्षा से घाटे की ही क्रिया हो जाती है और यही कारण है कि उसे वे नही अपनाते। हालांकि हम जैसे द्रव्यो मे आसक्ति रखनेवाले कमजोर और पिछडे लोगो के लिए तो वह बहुत कुछ है।

लाभ हो तो प्रतिमा-पूजन अपना सकते हैं

कई लोगो का कहना है, "भविष्य मे कुछ लाभ यदि हो तब ता क्रिया से उत्पन्न कुछ हिंसा भी स्वीकार की जा सकती है। जैसे मुनिराजो के दर्शनार्थ जाने-आने से कुछ हिंसा जाने-आने मे जरूर करनी पडती है पर बाद में उनके मुखारविन्द से, अमृत समान जिनराज भगवान की वाणी सुनने को मिलती है और जीते-जागते चरित्र-गुण की अनुमोदना करने का लाभ भी मिलता है। मूर्ति से तो कोई लाभ होता नही दीखता फिर व्यर्थ में हिंसा अपनाने से क्या लाभ ?"

यह कहना उचित होगा कि क्रिया तभी अच्छी समझी जा सकती है जब उससे कुछ लाभ की आशा हो। व्यापारी व्यापार करता है लाभ की आशा से। पहले कुछ खर्च भी मंजूर करता है भविष्य मे लाभ की प्राप्ति को देख कर।

इस प्रश्न से प्रसन्नता इसलिए ही रही है कि लाभ की शर्त के साथ, कम से कम प्रश्न-कर्ता में इस व्यवहार को अपनाने की इच्छा है। सभी अमूर्ति पूजक भाइयों को यह शर्त मजूर है या नहीं, नहीं कह सकते लेकिन जिन्हें मजूर है उनकी सहृदयता को हम सहर्ष स्वीकार करते है। अब इन्हे यदि हम मूर्ति-पूजा मे लाभ दिखा सकें तो एक उज्ज्वल भविष्य की आशा की जा सकती है।

एक मुनि महाराज ने मौन ले रखा है। तपस्या चल रही है। वे ध्यान में लीन कायोत्सर्ग मुद्रा में विराजमान है। ऐसे मुनिराज के स्थान पर यदि हम जांय और उनके दर्शन करते हुए उनको वन्दन इत्यादि करें तो हमें कुछ लाभ होगा या नहीं ? उत्तर स्पष्ट है– "लाभ ही होगा"

अब यदि कोई उच्छृङ्खल दिमागवाला भाई पाठकों से ही पूछ बैठे—

"क्या लाभ होगा ? मुनिराज ने कोई उपदेश नहीं दिया, न आहार इत्यादि ग्रहण के लिए हम उनसे प्रार्थना ही कर सके। उल्टे जाने-आने की हिंसा हमने जरूर की। हिंसा का लाभ हुआ समझें तो बात अलग है, लेकिन और कोई लाभ होना दिखाई नहीं देता।"

पाठक वृन्द सोचें। क्या उसका कहना उचित है ? यदि उचित नही है तो समझाइये वह कहां भूल कर रहा है। आप कहेंगे—

"ऐसे ध्यानी, तपस्वी मुनि-महाराज के दर्शन से लाभ ही हुआ। वे नही बोले और उन्होंने उपदेश नही दिया तो इसमें क्या हुआ ? उनके दर्शन और वन्दन का तो लाभ मिला। यह लाभ भी कम नहो। ऐसे मुनिराजो के पास जाना ही अत्यन्त लाभ का कारण होता है।"

किन्तु आपके इतना समझाने पर भी उसे सतोष नही होता। वह फिर आप से पूछता है—

"दर्शन और वन्दन से कौन-सा और कितना लाभ होता है, मुझे तो यही जानना है। मुझे इसमें कुछ भी लाभ नजर नहीं आता। उनके दर्शनो से ही लाभ यदि हो तब उन वृक्षो और पशु-पक्षियो को हम से अधिक लाभ होता होगा जो प्रायः चौबीसो घंटे उनके सामने रहते है, वे दर्शन भी करते है और झुक-२ कर वन्दन भी। मुझे स्पष्ट समझाइये, कैसे लाभ पहुँचा और कितना लाभ पहुँचा ? मैं तो जैसा गया वैसा ही चला आया। न कुछ सुना, न समझा।"

उनके असंतोष को देखते हुए, आप उसे और अधिक तत्परता से समझायेंगे।

यदि वह पूरा जिद्दी या नास्तिक निकला तो बात दूसरी है। नही तो समझा कर रहेंगे, ऐसी आपको आशा है। आप कहेंगे—

"धर्म का लाभ, 'मन मे उत्तम भावो की उत्पत्ति' को ही कहते है। धर्म कोई दिखाई देने वाली वस्तु नही है जो तेरा हाथ पकडकर दिखाई जा सके कि तेरे को मिलने पर भी तू 'ना' कैसे कह रहा है।" मुनि महाराज के स्थान पर जाने से, उत्तम भाव तेरे मन मे उत्पन्न हुए या नही, उसको तू स्वय ही समझ सकता है। इस विषय मे तेरे कहने से ही हमें कुछ मालूम पडेगा। चाहे तू झूठ बोले या सत्य, सब तेरी ईमानदारी ही पर निर्भर है। अब तू अपने भावो को परख। मुनि महाराज के सामने जाते ही उनके गुण याद आते है या नही ? उनको देखकर यदि ऐसी भावना मन में उत्पन्न हो—"कैसे त्यागी, कैसे सयमी, कितने निर्मोही। अहा ! कितना परिषह (कष्ट) सहन कर रहे है। ससार के सुखो की बिलकुल इच्छा नही। काम और क्रोध को जीतने वाले हे मुनि ! आप धन्य हैं ! जो भव रुपी अथाह समुद्र को तैर कर पार कर रहे हैं। कोई आप को अवर्णवाद भी बोले तो भी आप क्षमा सहित समभाव रखते हैं। आपके क्षमा गुण की कहाँ तक प्रशसा करे। समता रस का पान करने वाले हे गणिराज ! आप धन्य है ! धन्य है ! इत्यादि-२।" ऐसे विचार आने से दिल मे हलकापन अनुभव होता है या नही ? मन मे आनन्द उत्पन्न होता है या नही ? मन मे कोमलता पैदा होती है या नही ? उनके निर्मल गुणो मे हमारी रुचि पैदा होती है या नही ? ऐसे भाव मन में आने के बाद हम उन्हे नमस्कार करते हैं तो उस नमस्कार मे कितनी श्रद्धा, कितना विनय होता है ? उत्तर दे ऐसी स्थिति मे 'हमे धर्म का लाभ मिला' ऐसा मानें या नही ?

तब वह फिर कहता है—"किसी के गुणो को याद करके यदि लाभ उठाया जा सकता है, तो ऐसा लाभ गुणो को याद करके घर पर भी उठाया जा सकता है। फिर यहाँ तक आने की क्या जरुरत ? इसमे मुनि महाराज ने हमारी कोई सहायता नही की। हमने ही गुणो को याद किया और हमने ही गुणो की अनुमोदना की। सारे काम हमने ही किये। घर पर भी हम ही करने वाले होगे। भावना का ऐसा लाभ तो घर पर भी मिल सकता है। फिर यहाँ तक आकर, आने-जाने की हिंसा करने की और समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता ?"

पाठकवृन्द अब आपने समझ लिया कि वह सीधे रास्ते पर आ गया है। आप उससे शीघ्र प्रश्न करेंगे—

"घर पर भावना से लाभ उपार्जन की जो बात कहता है उसे तो तेरा दिल ठीक से मजूर करता है ? गुणो की अनुमोदना मे तो लाभ मानता है ? घर पर लाभ उठाने का समर्थन तो करता है ?"

बेचारा फँसा। सोचा—"कह दू, यह सब तुम जानो"

फिर सोचा—"ऐसा कहना ठीक नही होगा। ये लोग हठी है। विवाद चालू रखेगे और मेरी 'नासमझी' की कमजोरी पहले ही प्रकट हो जायेगी। 'हाँ' या 'ना' कुछ तो मुझे कहना ही पडेगा।

"लाभ नही होता" ऐसा कहने पर उसने थोडा विचार किया। ऐसा कहना उसे इसलिए उचित नही जँचा कि अभी-२ गुणो की अनुमोदना से लाभ उठाने का समर्थन खुद ही कर चुका था, और कुछ आप ही (पाठक वृन्द) के मुख से मुनिराज के गुण ग्रामो को सुन कर ऐसा प्रभावित भी हो चुका था कि उसने यह दृढ निश्चय कर लिया कि 'लाभ नही होता', ऐसा तो वह कदापि नहीं कहेगा। 'लाभ ही होगा' ऐसा कहने के ऊपर भी उसने थोडा-सा विचार किया। सोचा-"लाभ" कहूँगा तो उस 'लाभ' को तो मै भी समझा नही सकूगा। यदि मुझसे पूछ लेगे-'गुणो की थोथी अनुमोदना से क्या लाभ होने की आशा है? गुण तो आत्मा में उतर आवे, और सामनेवाला उतार दे, तब 'लाभ मिला' समझना चाहिए। वरना यह तो ढोग है, व्यर्थ है, इत्यादि-२" तो क्या उत्तर दूगा? विचारो के द्वन्द मे उसके मुख से निकला—

"लाभ ही होगा"

भाग्य से मतभेद न होने के कारण—उस 'लाभ' के सम्बन्ध मे उससे कोई प्रश्न नहीं किया गया जैसी उसके मन मे आशका थी, इसलिए मन-ही-मन उसने समझा 'झझट टला'।

पाठकवृन्द! आप उससे 'लाभ' ही मजूर कराना चाहते थे। आप कहेगे—'मुनि महाराज जब ध्यान् में लीन थे, तब वहाँ जाकर, उनके गुणो को याद करके, उनको नमस्कार करने के सिवाय, हमने कुछ भी नही किया। मुनि महाराज ने भी हमारी इसमें कुछ सहायता नही की। ऐसा नमस्कार, उन गुणो को याद करके हम घर पर भी कर सकते थे'—ये सब बातें ठीक है और यह भी ठीक है कि लाभ दोनो ही जगह होता। बात इतनी ही है कि अब 'लाभ' 'लाभ' में कितना अन्तर है, उसे समझना है। लाभ पाँच रुपये का भी होता है और पाँच लाख

रुपये का भी। कौन-सा लाभ लेना चाहेंगे ? निश्चय, अधिक लाभ को। लाभ दोनो जगह होते हुए भी 'लाभ', 'लाभ' मे अन्तर है या नही ? गुणो की अनुमोदना एक तो घर पर करते हैं, जहाँ गृहस्थ के हजार धंधे रहते हैं। बच्चे रोते हैं। कोई कुछ बकता है, कोई कुछ। ऐसे वातावरण मे हमारा मन पूरी तरह जम नही पाता यहाँ हमारा ध्यान इधर-उधर बँटता रहता है इसलिए गुणो मे पूरी तल्लीनता उत्पन्न नही हो पाती। इधर हम मुनिराज के ठिकाने अनुमोदना करते हैं और वह भी महान तपस्वी और ध्यानस्थ मुनिराज के संसर्ग मे। वहाँ आने-जानेवालो का भी हमारी तरह एक ही काम —"भाव से नमस्कार"। यह भी मन को एक बड़ा भारी सहयोग। अपार शान्तिमय स्थान, प्रत्यक्ष गुणो के अवतार सामने होने से मन की एकाग्रता का क्या कहना ? उत्तम भावो में जो तीव्रता आती है उसका वर्णन नही किया जा सकता। वह तो हमारा मन ही समझ सकता है। ऐसी तीव्र भावना, ऐसा उल्लास, ऐसी मन की एकाग्रता लाख प्रयत्न करने पर भी, घर पर उत्पन्न होनी बडी दुष्कर है। अनुभव से ही तू अपने अंतर में इस अंतर को समझ।

"यदि लाभ में इतना अन्तर नही होता तो यहाँ तक आने का कौन कष्ट करता ? कौन अपने आने-जाने के समय को नष्ट करता ? फिर जिस 'हिंसा' का तू अफसोस कर रहा है उसे कौन अंगीकार करता ?"

पाठक-वृन्द ! हम भी आपकी साक्षी मे अपने प्रश्नकर्त्ताओं को संतोषजनक उत्तर देने का प्रयास करेंगे परन्तु आपके प्रश्नकर्ता की तरह हमारे प्रश्नकर्त्तागण साधारण व्यक्ति नही हैं। उनके हिसाब से, छद्मस्थ रूप में भगवान, चार ज्ञान के स्वामी भले ही चूक जाँय पर ये पन्थ-मोह-मस्त शून्य के स्वामी मूर्ति-पूजा की नस-२ ढीली करने में कभी नही चूक सकते। अपने गुरुओ के गुरु, ये वीर बच निकलने मे उस चतुर सेठ से कम नही जो चंदा न देने की अपनी इच्छा को जानते हुए भी, आमने सामने अपने मुख से 'नही' न कहने के अभिमान में, संग्रहकर्ताओ से किसी दूसरे ऐसे सेठ से चंदा ले आने का आग्रह इसलिए करता है कि उसको यह पूरा भरोसा है कि वह चंदा कभी नही देगा। जब वह चंदा नही देगा तो स्वत. ही उसे भी चंदा नही देना पड़ेगा और "नही" कहने से जो उसकी हेठी होती, या दूसरे लोग, चंदा न देने के लिए उसको 'बहाना' बनाते या संग्रह कर्त्ताओ से माथा-पच्ची करनी पडती अथवा उन चतुर व्यक्तियो के वाक् जाल में

फँसने का मौका उपस्थित होता, आदि समस्त झझटो से भी वाल-२ वच जायेगा। परन्तु मान लीजिये उसके दुर्भाग्य से, दूसरे सेठ ने, उसकी आशा पर पानी फेरते हुए, चदा दे ही दिया तो भी क्या हुआ, वह तो विना घवडाये, अपनी होशियारी से चदा देने से वचता ही जायेगा। अन्त मे यह वात कह कर ही कि उन्होने दे दिया तो क्या हुआ, इस कार्य में वडा चदा देने की तो मै आवश्यकता नही समझता, और छोटा चदा देना मेरी शान के खिलाफ है, साफ बच जायेगा।

हमारे प्रश्नकर्त्ता भी उस सेठ की तरह, अभी तो यही समझकर कौडी फेक रहे है कि ऐसा सिद्ध थोडे ही होगा या यह सिद्ध हो ही नही सकता। पर जव उन्हें सारी वातें सिद्ध होती नजर आने लगेंगी, तव यह कहने से उन्हें कौन रोक सकेगा—"हम तो ऊँची-२ क्रियाएँ करनेवाले हैं। ऐसी निम्न श्रेणी की क्रिया की हमें आवश्यकता नही। चाहे वह किसी के लिए उपयुक्त है तो हमें क्या ?" अस्तु, देखें क्या गुल खिलता है। यदि ये ऐसा स्वीकार कर लेगे तो भी कोई हर्ज नही। हानि इसमें हमारी भी नही है।

इतने विवाद के पश्चात् शायद हमारे प्रश्नकर्त्तागण भी ध्यानस्थ मुनि-महाराज को वदन नमस्कार करने में धर्म ही मानेगें। कदाचित् ऐसी मान्यता से, मूर्ति-पूजा की पुष्टि होते देख, भविष्य में कुछ लोग ऐसी घोषणा भी कर दे-कि ध्यानस्थ मुनि-महाराज के दर्शन और उनके वन्दन से लाभ नही होता, प्रत्युत जाने-आने की क्रिया से हिंसा होती है। छ काया के जीवो की विराधना होती है—तो कोई आश्चर्य की वात नही। जिनका ध्येय ही मूर्ति-पूजा का विरोध करना है, उन्हें हजार विपरीत वातें अपनानी स्वीकार हैं, पर मूर्ति-पूजा की पुष्टि होते देखना, उन्हें स्वीकार नही। ऐसी मान्यता अपनाने पर भी, मूर्ति-पूजा की जडे काटने मे वे समर्थ होगे या नही, ज्ञानी जानें पर उनके लिए तो यह अहितकर ही होगा। वे मूर्ति माने या न मानें, हमारे मन में उनके प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नही है। स्वधर्मी की दृष्टि से हम उनकी हानि के सम्बन्ध में उन्हें सचेत कर देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हम उनकी ऐसी घोषणा को इसलिए हानि-पूर्ण समझते हैं कि ऐसा मानने से ध्यानस्थ एव अस्वस्थता या वृद्धावस्था के कारण उपदेश देने में असमर्थ अनेक साधु साध्वियो की महा आशा-तना से महा-पाप का उदय तो होगा ही, साथ ही उपदेश को न समझने वाले, उपदेश न होता हो उस समय दर्शन निमित्त आनेवाले, विहार और पचमी के समय सेवा

करनेवाले समस्त भाई बहनो को धर्म के लाभ से वंचित हो जाना पडेगा। विशेष बात यह होगी कि अनुमोदना से प्राप्त धर्म का लाभ भी सदा के लिए पूर्णतया विछिन्न हो जायेगा ? चूकि ऐसा मानना उनके हक मे एक बडी भारी हानि होगी, अत. आशा करनी चाहिये कि जिद्द के मारे वे ऐसी घोषणा तो नही करेंगे।

प्रश्नकर्त्ताओ से हम सोचने का अनुरोध करते हैं कि जब ध्यानस्थ मुनि-महाराज, शान्त-भाव से बिराज रहे हो तो उनमे और मूर्ति मे क्या अन्तर है ? ध्यानस्थ मुनि महाराज तो स्वय मूर्ति-मान ही होते है। यदि कहे-"कहाँ ध्यानस्थ मुनि-महाराज कहाँ जड मूर्ति, समानता करने मे भी शर्म मालूम पडती है। वे तो प्रत्यक्ष होते हैं। भूतकाल मे उनके द्वारा समाज के लिए किये गये उपकार के कारण एव व्यक्तिगत ससर्ग में आने के कारण, हमारा भक्ति-भाव उनमे गहरा जम चुका होता है। भविष्य मे भी उनसे हमे उपदेश मिलने की आशा है।"

विचारार्थ यहाँ भी कहना चाहेगे कि हम चाहे तो कलापूर्ण ढग से मूर्ति में भी वास्तविकता ला सकते है। उपकार का एहसान तो हर जगह बिलकुल समान होगा। ससर्ग मे आने का प्रश्न भी अपूर्ण है। यह सब पर लागू नही होता। कई आगन्तुक तो बिलकुल नये होगे ही। क्या उन्हें लाभ नही होगा ? क्या बच्चो को लाभ नही होगा ? रही उनसे भविष्य मे उपदेश मिलने की आशा, उनके व्यक्तिगत सहयोग की उम्मीद। यह भी प्राय· अनिश्चित ही है। कारण कौन कहाँ रहेगा, क्या होगा यह ज्ञानी जानें। मान लें कि हमने जैसा सोचा वैसा ही होगा। किन्तु गुरु महाराज से ऐसा स्वार्थ रखना ही हमारे लिये अनुचित है। हमें तो नि स्वार्थ भाव से ही उन्हे नमस्कार करना चाहिए। स्वार्थ रखने पर जिन मुनिराजो से हमारे स्वार्थो की पूर्ति नही होगी, उन्हे हम भाव से नमस्कार ही नही करेंगे। यह तो हमारे लिए पूर्ण अहितकर एव अनुचित होगा। असल मे मूर्ति और ध्यानस्थ मुनि महाराज मे श्वासो-श्वास के सिवाय उस समय कोई अन्तर नही होता। अनुमोदना में हमें श्वासो-श्वास से लेना-देना ही क्या है ? जब एक ध्यानस्थ मुनि महाराज के सामने उनके गुणो की अनुमोदना करने से हमे लाभ होता है फिर भगवान की मूर्ति के सामने उन्ही के गुणो की अनुमोदना करने से हमे लाभ क्यो नही होगा ?

भगवान के तो अनन्त गुण है। उनकी अनुमोदना भी हम नित्य प्रति करते ही है। अनुमोदना एक तो हम उनकी मूर्ति के सामने करते हैं, एक उनकी मूर्ति

के विना इसमें उतना ही फर्क है,जितना ध्यानस्थ मुनिराज के सामने या विना उनके सामने, अर्थात् घर पर। यह तो अनुभव करने की वात है। लाभ हो और अधिक लाभ हो तो किसी भी अवलम्बन को अपनाने मे क्या दोष है ?

अनुभव के विना किसी भी विशेषता का पता नही चलता और विना अभ्यास के अनुभव प्राप्त नही होता। हीरे को हम भी देखते हैं और जौहरी भी। हीरा वही है। आँख की रोशनी भी दोनो की ठीक है पर अनुभव, अनुभव ही होता है। जहाँ हम, हीरे और काच मे क्या अन्तर है यह भी नही समझ पाते वहाँ जौहरी एक ही मिनट में सव कुछ समझ जाता है और हीरे के समस्त गुण दोषो को परख लेता है। यह अनुभव ही की करामात है। जौहरी एक दिन में जौहरी नही वना है। उसने काफी अभ्यास किया है। तभी वह अनुभवी हुआ है। इसी प्रकार मुनिराज के आगे हो या भगवान की प्रतिमा के आगे गुणो की अनुमोदना कर, लाभ उठाना भी टेढी खीर है। इसमे भी अभ्यास की महती आवश्यकता है।

ऐसे मनुष्य का ख्याल करिये जिसे दिखाई नही देता। वह तो ध्यानस्थ मुनि महाराज का दर्शन भी नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे हमारे से यह जानकर कि ध्यानस्थ मुनि-महाराज यही विराज रहे है, वह झट वन्दना करता है और हमारी तरह गुणो की अनुमोदना भी। परीक्षा के तौर पर गुरु महाराज की जगह यदि हम किसी दूसरे श्रावक भाई को विठाकर, उससे कहें—"गुरु महाराज यही विराज रहे हैं" तो भी उसके वन्दना, नमस्कार में कोई अन्तर नही आता। इस भावपूर्ण वन्दन से उसे लाभ हुआ या नही ? आप कहेंगे–"वह तो अधा था, हम अधे थोडे ही है।" कोई वात नही। एक मुनि-महाराज कर्म सयोग से पतित हो गये हैं पर हमे अभी तक उनके पतित होने का पता नही है। जब तक पता नही कि ये पतित हो चुके है तव तक तो हम उन्हें शुद्ध साधु समझ कर ही नमस्कार करेंगे। इसमे हमें लाभ होगा या नही ? निश्चय ही ऐसे स्थान पर हृदय के शुद्ध भावो के कारण हमारे वन्दन, नमस्कार से मिलनेवाले लाभ में किसी प्रकार की कमी नही आती, भले ही लाभ पहुँचाने वाले निमित्त कारणो में समूल परिवर्तन ही क्यो न आ गया हो। यदि हम लाभ नही मानते है या हानि मानते है तो सन्देह के कारण किसी भी साधु, साध्वी को हम नमस्कार कर ही नही सकेंगे। इसी प्रकार मूर्ति चाहे प्रत्यक्ष भगवान न हो

पर उसमे भगवान का-सा भाव आरोपित कर उन्हें किये गये वन्दन, नमस्कार आदि महान् हितकारी ही होगे।

प्रश्न उठ सकता है—"कपट का या पतित होने का जब तक भेद नही खुलता, तभी तक सभवत. लाभ हो तो हो सकता है। भेद खुल जाने पर भाव से कोई वन्दन, नमस्कार करता है ? पतित अवस्था को जानते हुए भी यदि कोई भाव पूर्वक वन्दन, नमस्कार करे तो क्या कहा जा सकता है कि उसे भी लाभ ही होगा ? जैसा कि हमे शत प्रतिशत विश्वास है कि यहाँ उत्तर जरुर नकारात्मक ही होगा, तो मूर्ति का भी जब भेद खुल गया है कि वह असली भगवान नही है, बनावटी है, फिर उसमे किसी समझदार के लिए 'भगवान ही है' ऐसा समझ कर भाव जमने-जमाने की गुजाइश ही कहाँ रह जाती है। फिर भी यदि उसे ही भगवान समझ कर कोई नमस्कार, वन्दन, पूजा इत्यादि करे तो उसे'नादान' नही तो और क्या कहे ? भला सही स्थिति को जानते हुए यहाँ कैसे लाभ हो सकता है ?"

मूर्ति में उनके भाव नही जमते यह बात ठीक है पर उसका कारण--'भेद खुल गया' जो बताया है, वह उचित नही है। क्रोध तो हमे कपट पर आता है। धोखेबाजी मालूम पडने पर किसका मन जमे ? पतित साधु ने तो कपट रक्खा, हमे धोखा दिया। परन्तु मूर्ति मे ऐसी बात नही है। इसे तो हमने चतुराई से, अधिक फायदा उठाने के स्वार्थ से, सोच समझ कर बनाई है। पीछे भेद खुलने का तो कोई प्रश्न ही नही। यहाँ तो कोई भेद था ही नही। भेद तो पहले ही से खुला है, यह सारा ससार जानता है। हम सभी जानते है कि नाटको में कोई राम, कोई कृष्ण, कोई श्रीपाल, कोई प्रताप आदि का अभिनय किया करते है। उन पर हमे जरा भी क्रोध नही आता। पर साधु का 'पतित होना' ज्ञात होने पर घृणा और गुस्सा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। दिखाई नही देनेवाले भाई से, मुनि-महाराज की जगह दूसरे भाई को नमस्कार करवाने के बाद, उस छल को प्रकट करके देखिये, छल करने वालो के पीछे लट्ठ लेकर कैसा झपटता है, कितनी गालिये देता है और कैसा क्रोध करता है। पर अभिनेताओ पर हमे क्रोध क्यो नही आता ? भेद भी खुला हुआ है कि वे असली नही है। वे तो बनावटी रूप धारण किये हुए है। फिर भी हम आँख फाडकर उन्हे और उनके कार्य-कलापो को अच्छी तरह देखते हैं। यह अन्तर क्यो ?

-वस्तुत. हमें गुस्सा इसलिए नही आता और न ऐसे अवलम्वनो से हमारा

मन ही उचटता है क्योकि ये सब जानकारी में है। यहाँ कपट या धोखा नही है। फिर भेद खुलने का प्रसग ही कौन-सा ? यह तो हमने अपने लाभ के लिए, हमारे ऊपर उसका अधिक और गहरा असर हो अत जान-बूझकर ऐसा अवलम्बन ग्रहण किया है। ऐसे बनावटीपन का भी जो महान् असर हम जन-साधारण पर पड़ता है वह किसी से छिपा थोडे ही है। आँखें तक छलक आती हैं। इसी प्रकार मूर्ति मे भी कोई भेद रहा हो और बाद मे मालूम हुआ हो, ऐसी कोई बात नही है।

किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व एक प्रश्न और उठता है वह यह कि मूर्ति में मन नही जमने का जब सही कारण 'भेद खुल गया, नही है तो फिर मूर्ति में मन नहीं जमने का असली कारण क्या है ?"

मूर्ति में मन नही जमने का असली कारण है, वर्षो से पनपाई गई वह 'घृणा' जिसने दिलो मे गहरी जडें जमा रक्खी है। वस्तु चाहे कितनी ही अच्छी क्यो न हो, उसके प्रति घृणा हो जाने के बाद वह एक कौडी की कीमत की भी नही रहती। यही मनुष्य के सरल स्वभाव की रीति है, जिसके हम सभी शिकार है।

'घृणा क्यो पनपाई गई ? उत्तर है-"समझ का मान, अभिमान या कमी, एव आपसी ईर्ष्या और द्वेष"।

यदि इस कथन पर कि 'घृणा ही के प्रबल वेग ने उन्हे मूर्ति-पूजा का विरोधी बना रक्खा है', विश्वास न आता हो तो इस सच्चाई की परीक्षा वे स्वयं इस प्रकार कर सकते है—

"मुनिराजो में तो आपकी दृढ भक्ति और श्रद्धा है ही। आप कुछ पूर्व पूज्यो या आचार्यो की प्रतिमाये स्थापित करे। भवन का नाम—'पूर्वाचार्य स्मृतिशाला' दे सकते हैं। प्रार्थना इतनी ही है कि आप रोज एक बार इन मूर्तियों का निरीक्षण कर लिया करे।"

उन मूर्तियो को देख कर आप अनुभव करेगे कि मै कहाँ आ गया ? मै क्या देख रहा हूँ। उस समय आपको इतना आनन्द आयेगा, जिसका अनुमान आप सहज ही नही लगा सकते। आनन्द से आपका रोम-२ पुलकित हो उठेगा। मन में धर्म के प्रति अपूर्व उमग की लहरें उठने लगेंगी। उस निरीक्षण के समय थोडी देर के लिये, ससार से सब तरफ से आपका ध्यान हट कर, आपकी आँखो के सामने उन आचार्यो का इतिहास नाचने लगेगा। उनमें भी जिन-२ आचार्यों

का सम्पर्क, उनके जीवन काल में, आपके साथ व्यक्तिगत तौर पर विशेष रूप से रहा है या जिन-२ आचार्यो को आप अपनी आँखो से देख चुके है और उनके व्याख्यान सुन चुके है उनकी मूर्तियो को देख कर आप गद्-गद् हो जायेगे। उनके सामने से हटने का आपका मन ही नही होगा। इच्छा होगी, थोडा और देख लू, थोडा और निहार लू। आपके मस्तिष्क मे उनकी स्मृति इतनी ताजी हो जायेगी, मानो वे आपके सामने साक्षात् खडे है। आप से कुछ कह रहे हैं। आपको ऐसा लगेगा मानो उनके शब्द आपके कानो मे गूज रहे है—"धर्म में श्रद्धा रखना, त्याग मे धर्म समझना" आदि। उनके द्वारा दिये गये उपदेश आपके दिल मे हिलोरे लेने लगेंगे। यदि बच्चे भी आपके साथ ऐसी पूर्वाचार्य स्मृतिशाला देखने गये हो तो उनके हृदयस्थ भावो को भी समझने का प्रयत्न करें। उन पर उन मूर्तियो की क्या प्रतिक्रिया होती है उसे भी ठीक से परखें। उस समय आपको अनुभव होगा कि बच्चो मे गुरुजनो के प्रति कितना अधिक अनुराग उत्पन्न होता है। लोगो मे कितनी गहरी श्रद्धा उत्पन्न होती है। उनके मस्तक अपने आप उन महान् मूर्तियो के चरणो मे किस प्रकार झुक जाते हैं। साथ ही यह भी अनुभव होगा कि मूर्ति से द्रव्य-पूर्ति भले ही न हो पर वह मन मे स्फूर्ति उत्पन्न करने में तो अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त और क्या-२ अनुभव आपको हो उनको भी आप लक्ष्य में रखें। इसमे हिचकिचाने या घबडाने की कोई बात नही है। यह तो आपकी एक महान् ऐतिहासिक वस्तु ही होगी। मेरा तो आपसे यही नम्र निवेदन है कि कम-से-कम अपनी आँखो के सामने अपने ही हाथो जीवन में एक बार इसे अपना कर देख तो लें।

तब आपको पता चलेगा कि मूर्तियो में कितनी करामात होती है। वे बोलती हैं या नही ? फिर एक दिन आप स्वय अनुभव करेंगे कि मूर्ति कला का खून करके आपने अच्छा काम नही किया। इतने वर्ष व्यर्थ इसके लाभ से वंचित रहे।

एक बार फिर मै अपने प्रश्नकर्ताओ से निवेदन करूंगा कि वे इस पर गहरा विचार करे। अनुमोदना से धर्म कैसे होता है पहले इसे समझे। मूर्ति का सहारा भावो को तीव्र करने में सहायक है या नही इसकी भी अनुभूति करें। सच्चे अनुभव के लिए पहले थोडा अभ्यास भी आवश्यक है। फिर स्वय निर्णय करें कि मूर्ति का सहयोग आपके लिए कैसा रहता है।

धीरे-२ जब आपके हृदय से घृणा का भाव दूर हो जायगा तो आपको नित्य

अधिकाधिक आनन्द आयेगा और नये-२ अनुभव होंगे। आप देखेंगे कि मूर्ति बोलती है। वह उपदेश भी देती है। वह वैसी ही सहायक है जैसी उत्तमोत्तम पुस्तके। हम सभी जानते हैं कि उत्तम पुस्तकें अच्छी बाते बतलाने वाली, उत्तम विचार उत्पन्न करने वाली और सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देने वाली होती हैं। हालाकि पुस्तकें जड हैं। पर एक अनपढ की या पढने की इच्छा न रखने वाले की वे क्या सहायता कर सकती हैं ? कुछ भी नही। वे तो उन्ही की सहायता करती हैं जो उनकी बोली को समझते है, उनकी बातों को सुनना चाहते हैं और सुनते हैं।

ठीक इसी प्रकार मूर्ति का भी यही काम है। उसकी भाषा पुस्तको की भाषा से भी कठिन है। इस भाषा को समझाने के लिए तो और भी अधिक विवेक और अभ्यास की आवश्यकता है। आपको उसके अनुपयुक्त और अहितकर लगने का कारण यही है कि गलतफहमी के कारण आपने इस ओर पूरा ध्यान नही दिया है और उससे घृणा कर बैठे हैं, अन्यथा अपने ही जिनराज की मूर्ति मे द्वेष, उन्ही के बहुमान से घृणा ! इतना लाभ पहुँचाने वाले ऐसे प्रयत्न को ही बुरा मान बैठना ? कम से कम एक जैन से तो स्वप्न में भी ऐसी आशा नही की जा सकती।

स्वामी श्री भीखनजी द्वारा चर्चित प्रश्नोत्तरों की समीक्षा

गोबर की प्रतिमा क्यों नहीं पूजते ?

तेरापथ मत की स्थापना करने वाले स्वामीश्री भीखणजी, हमारे आचार्य श्री खतिविजयजी महाराज साहब से निक्षेपो के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए, प्रतिमा के सम्बन्ध मे पूछते हैं—

"रत्ना री प्रतिमा हुवै तो वादो क नही ? ते बोल्यो, वादा, सोना री वादा, रुपा री तथा सर्वधात री हुवे तो वादा । वनी स्वामीजी पूछ्यो गोबर नी हुवे तो ? खतिविजय क्रोध करने बोल्यो –तुमसू निक्षेपानी चरचा करवी नहीं । तू तो प्रभु री आशातना करैं । अम्हने गमे नही । इम कही चालतो रह्यो । स्वामीजी पण ठिकाणै आया ।"*

चूंकि यह चर्चा मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित है इसलिए इस पर थोडा विचार यहाँ भी आवश्यक है । आज न तो आचार्य श्री भीखणजी इस ससार में मौजूद है न पूज्यवर श्री खतिविजयजी महाराज । उनके मध्य क्या वार्तालाप हुआ, सम्पूर्ण विवरण तो केवली भगवान ही जाने ? अभी तो जो कुछ हमारे भाइयो द्वारा लिखा हुआ सामने है, उसी के आधार पर हम यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में उनकी धारणा कितनी अविवेकपूर्ण रही और है ।

एक भाई पूछता है—"रत्नो के दीपक जलाते है या नही ? सोने, चाँदी या पीतल के दीपक जलाते है या नही ? मिट्टी के दीपक जलाते है या नही ?"

तो यही उत्तर देंगे—"जलाते हैं"

फिर वह पूछता है—"गोबर के दीपक जलाते है या नही ?"

तो कहिये—"क्या उत्तर दे ?"

फिर वह पूछता है—"रत्नो के थाल मे भोजन करते हैं या नही ? सोने, चाँदी

---

*देखिये भिक्षु दृष्टान्त—९१ पृष्ठ ३७

या पीतल के थाल में भोजन करते है या नही ? मिट्टी के थाल मे भोजन करते है या नहीं ?"

यही न उत्तर देगे—"करते है।"

फिर वही महानुभाव पूछता है–"गोबरके थाल मे भोजन करते है या नही ?"

तो कहिये—"क्या उत्तर दें ?"

फिर वह प्रश्न करता है—"रत्नोकी माला काम मे लेते है या नही ?

मोती मूंगे की माला काम में लेते है या नही ? सोने, चादी के मणियो की माला काम में लेते है या नही ? लकड़ी या सूत के मणियों की माला काम में लेते है या नही ?'

तो यही न उत्तर देंगे–"लेते है।"

फिर वह पूछता है–"गोबर के मणियो की माला काम में लेते है या नही ?"

तो कहिये—"क्या उत्तर दें ?"

फिर वह पूछता है–"चने, बाजरे और ज्वार की रोटी खाते है या नही ?

गेहूँ की रोटी खाते है या नही ?"

तब यही उत्तर देंगे–"खाते है।"

अब मतिमन्द पूछ बैठता है, "गोबर की रोटी खाते है या नही ?" तो कहिये "क्या उत्तर दे ?"

फिर वह पूछता है,"साधु को वस्त्र-दान देकर लाभ लेते है या नही ? आहार, पानी देकर लाभ लेते है या नही ? औषधि देकर लाभ लेते है या नही ? कागज पेंसिल देकर लाभ लेते है या नही ? लकडी के बने पात्रे इत्यादि देकर लाभ लेते है या नही ?"

तो यही उत्तर देंगे–"लाभ लेते है ?"

अब दुर्बुद्धि पूछता है–"गोबर देकर लाभ लेते है या नही ?"

तो कहिये "क्या उत्तर दें ?"

शेष प्रश्न को सुन कर कई तमतमा सकते है और उत्तर दाताओ में यदि कोई अधिक उग्र स्वभाव का निकला तो उत्तर देने के बजाय गुस्से से कह सकता है—

"क्या गोबर मुनियो के काम मे आनेवाली वस्तु है ? फिर मुनि महाराज जैसी महान् पवित्र आत्मा के सम्बन्ध में गोबर देने का प्रसग तेरे मस्तिष्क मे क्यो उत्पन्न हुआ ? क्या इस तरह तू हमारे धर्म-गुरु से हमारे भाव उतारना चाहता

है ? क्या इस तरह तू हमारी मान्यता को यानी हमारी दान देनें की प्रथा को निरर्थक, निकम्मी सिद्ध करते हुए, हमारी नजरो में गिराना चाहता है ? या उसकी खिल्ली उडाना चाहता है ? यह तो तूने अपने जगलीपन का अच्छा नमूना पेश किया है। अरे, अक्ल के अन्धे ! क्या तेरा दिमाग सडा हुआ है ? जो यहाँ गोबर का प्रसग लाकर उपस्थित किया ? नालायक कही का, अपनी दुर्बुद्धि के पीछे गोगर का भी अपमान करवाने का काम तूने किया है। हम तो गोबर का जैसा उचित उपयोग समझते है वैसा उसे काम मे लेते हैं और अनेक कामो मे लेते है पर तेरे जैसे मूर्ख को यह थोडे ही सूझने वाला है कि कौन-सी वस्तु कहाँ काम मे लेनी उपयुक्त होती है और कौन-सी नही। वाह रे, मूर्ख शिरोमणि, तू धान की जगह गोबर और गोबर की जगह धान को काम मे लेने वाला उल्टी मतिवाला ही मालूम पडता है। हमारी मान्यता इतनी थोथी नही है कि इस तरह के वेहूदे प्रश्न के सामने झुक जायेगी या वुरी वन जायेगी। चल, दूर हट हमारी नजरो के सामने से इत्यादि।"

प्रश्नकर्ता की उन्माद वृत्ति को देखते हुए उस भाई का तमतमा जाना अकारण तो नही कहा जा सकता फिर भी हमारा हित सयम रखने ही में है। भगवान् के सच्चे अनुयायी हम तभी कहला सकते है जव हम क्षमाशील रहें एव अन्याय और अपमान को भी पी जाँय।

प्रश्नकर्ता चाहे जैसा प्रश्न करे हमें शान्ति पूर्वक उचित समाधान सहित अपनी वुद्धि के अनुसार उत्तर देना चाहिये। प्रश्नकर्त्ता को सतोष हो अथवा न हो पर कम-से-कम दुनिया तो यह समझे कि हम ठीक कहते है।

हमारा उत्तर इस प्रकार है कि सभी दीपक रोशनी विकीर्ण करते हैं और गोबर के दीपक से भी हमें कोई घृणा नही पर उसे काम मे न लेने का कारण यही है कि जब उससे भी अच्छे साधन आविष्कृत हो चुके हैं तव अनेक असुविधाओ युक्त इस साधन को क्यो अपनावें ? प्रथमत वह तैल को ही चूस लेगा, खुद ही जल जायेगा और जल्दी ही चूर-२ होकर नष्ट हो जायेगा। इसी तरह गोबर का थाल वना कर भोजन के लिए काम मे लेने पर भोजन जरूर होगा पर अन्य थालो की अपेक्षा इसके व्यवहार से अनेक तरह की असुविधाये ही होगी। यही कसी माला इत्यादि के व्यवहार में भी आयेगी। माला रत्नो की हो तो क्या और लकडी के मणियो की हो तो क्या, लाभ तो हर दशा में समान ही

होगा। मुनि महाराज को तो उसका दान देने का कोई प्रश्न ही पैदा नही होता क्योंकि गोवर उनके कोई काम नही आता। फिर भी यदि हमारे घ्यान में न हो, और गोवर भी उनके कोई काम मे आता हो और वे लेना चाहते हो तो देने से लाभ ही होगा। हम मुनिराज को आवश्यकतानुसार सूई, कैंची, कागज, स्याही, राख, 'सफेदा'–पात्रे इत्यादि रगने का पदार्थ–देते ही है। इन सव जगह गोवर को काम मे न लेने पर भी न तो दीपक, थाल, माला इत्यादि वस्तुएँ वुरी कही जा सकती है और न इनका उपयोग ही वुरा कहा जा सकता है। उसी तरह न दानादिक के कार्य ही वुरे हैं और न गोवर ही। हमारा अन्न उसी के सहयोग से पकता है, हमारे घर उसी से लीपे जाते हैं। यहाँ तक कि हमारे पीने का पवित्र पक्का पानी उसकी राख से भी वनाया जाता है।

अस्तु, प्रतिमा के सम्वन्ध में भी गोवर का प्रसग उपस्थित कर स्वामी श्री भीखणजी ने यदि यह समझा था कि इससे हमारी जवान वद हो जायेगी या इससे हमारी मूर्ति-पूजा वुरी सिद्ध हो जायेगी तो यह उनके जीवन की एक महान् भूल ही थी। जैसा कि प्रश्नोत्तर से प्रकट है कि ऐसा पूछने पर पूज्यवर खति-विजयजी ने, 'वादा' या 'न वादा' कुछ भी नही कहा सो हमारी समझ से उन्होने उचित ही किया। यदि वे इस प्रश्न का उत्तर–"वादा"कह देते जैसा कि ऊपर के सव प्रश्नो के उत्तर में "वादा" कहा है, तो निश्चित ही स्वामी भीखणजी को हमारी वोलती वद करने के लिए गोवर से भी अधिक गीली ऐसी वस्तु खोजनी पड़ती जिसकी मूर्ति तो क्या, जो सहज ही हाथ से उठाई भी न जा सके या किसी ऐसी गदी वस्तु के नाम को जवान पर लाना पडता जिसका नाम सुन कर ही लोग गोवर से भी अनेक गुणा अधिक घृणा करते हो और नाक, भौंह सिकोड़ते हुए दूर भागते हो। पर हमारे महा-भाग्यशाली, विवेकवान खतिविजयजी महाराज साहव ने वार्ता को अनुचित रूप लेते देख, मौन रहना ही उचित समझा। पाठकवृन्द ही सोचें यदि महाराज साहव खतिविजयजी यहाँ भी कह देते–"वांदा", तो क्या आप समझते है कि रग में चढे स्वामी श्री भीखणजी, मूर्ति-पूजा को अच्छी स्वीकार कर लेते? कभी नही। वे या तो यही फरमाते–'ए तो गोवर ने ही वाद लियो रे, गोवर ने ही वाद लियो रे, गोवर ने ही वाद लियो रे", या कदाचित् ऐसा नही फरमाते तो ऊपर कहे अनुसार, अन्य कोई पदार्थ खोज कर ही वार्ता को आगे वढाते।

थोडी देर के लिए यदि ऐसा मान ले कि सब जगह निस्सकोच भाव से "हाँ" भरते हुए, पूज्यवर खतिविजयजी का वहाँ मौन रहने का, या उत्तर न देने का यही अभिप्राय था कि वहाँ उनकी "हाँ" नही थी। तब यह मानना पडेगा कि वहाँ उनकी "ना" थी। यानी—"नही वादे" ऐसा निर्णय था। मान ले कि उनका उत्तर यही था, तो भी क्या हो गया ? किसी मूर्ति विशेष को "नही वदे" कह देने से हमारी कोई हेठी थोड़े ही लगती है। या इससे हमारी मान्यता गलत थोडे ही सिद्ध हो जाती है। यदि कोई यह पूछे—"खडित प्रतिमा वदेंगे या नही ? अप्रतिष्ठित प्रतिमा वदेंगे या नही ? मोम या कपूर की प्रतिमा वदेगे या नही ?" तो हम यहाँ स्पष्ट कह देंगे—"नही वदेंगे" कारण खडित प्रतिमा कमी युक्त होती है। अप्रतिष्ठित प्रतिमा में भी हमें किसी कमी का सदेह होना स्वाभाविक ही है और इसे न वदने का एक कारण "सावधानी" की मर्यादा का पालन भी है। इसी तरह मोम या कपूर ऐसे पदार्थ है जो अपने आकार एव स्थिति को शीघ्र वदल लिया करते हैं। इसलिए खडित प्रतिमा के समान ही, इनसे वनाई गई प्रतिमाओ का कमी युक्त वन जाना विलकुल निश्चित है। इसीलिए ऐसी प्रतिमाये नही वदते। हमें विवेक पूर्वक अपना कार्य करना पडता है। गोवर की प्रतिमा वनाने पर उससे जो अनेक तरह की अडचने, हमारे व्यवहार के हिसाव से, उत्पन्न हो सकती है वे तो स्पष्ट ही हैं। इसीलिए, इसे प्रतिमा वनाने के काम में नही लेते। फिर भी यदि, वगाल प्रान्त मे घास पर पलस्तर करके वनाई गई मा दुर्गा की प्रतिमा की तरह, सव सुविधाओ से युक्त, कलापूर्ण ढग से कोई गोवर की भी प्रतिमा वना सके और उससे, अन्य प्रतिमाओ की तरह, परमात्मा की शुद्ध ध्यानावस्था का वोध मिल सके तो उसे वन्दने मे भी हमें कोई आपत्ति नही। हमें तो कागज या गत्ते पर (कागज या गत्ता जिस लुगदी-गीला पिंड—से वनाया जाता है, वह पदार्थ गोवर से किसी प्रकार कम नही कहा जा सकता) अकित भगवान के चित्र को भी वदने मे कोई एतराज नही है और वदते ही हैं। कारण हमारी वंदना तो एक मात्र गुणो के लिए ही होती है। जब उस स्वरूप को देख कर, परमात्मा के गुणो में हमारा मन लीन हो जाता है तभी हमारी वदना प्रकट रूप में आती है। इसलिए, जहाँ हम जैसा व्यवहार देखें प्रतिमा के लिए, अपेक्षा से 'हाँ' या 'ना' कुछ भी कह सकते है। इससे हमारी मान्यता मे जरा भी अन्तर नही पड़ता।

अब सोचना यही है कि आचार्य श्री भीखणजी रत्नों से चल कर गोवर तक क्यों आये और क्या समझ कर गोवर की प्रतिमा का प्रसग उपस्थित किया और ऐसा प्रसग उपस्थित करके उन्होंने क्या सिद्ध कर दिया ? क्या गोवर सस्ता और पैरो तले आनेवाला पदार्थ होने के कारण लोगो की नजरो में हेय ही है ; या गोवर के नाम से हल्की-२ लोकोक्तिया, जैसे 'क्या तेरे दिमाग में गोवर भरा है,' 'तेरे घर में क्या गोवर रक्खा है', 'गुड को गोवर कर डाला', आदि सुन-२ कर, लोगो की उसमें सहज ही घृणा और अरुचि उत्पन्न है ही—ऐसा जान उन्होने यह प्रसग लाना उचित समझा ? वहुत सम्भव है उन्होने यही समझा होगा कि इन तरह के उपाय से जन साधारण में,प्रतिमा के प्रति—घृणा, अरुचि और हलके-. पन की भावना सहज ही उत्पन्न की जा सकेगी और वाजी मारते हुए अपनी वुद्धि और प्रतिभा को चमकाने का एक महान् सुअवसर हाथ लग जायेगा। पर सत्य जो कुछ है वह पाठकों के सामने ही है। यहाँ स्वामीजी वडे जोर की ठोकर खा गये। गुरु मे ज्ञान में मिली वह गलती—"प्रतिमा-पूजन हिंसा युक्त है" चरम मीमा को भेदती हुई, यहाँ पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँच गई। हमारे लिए तो जैसी रत्न की प्रतिमा है वैसी ही पत्थर की। फरक तो रत्न और पत्थर में भी वहुत है पर इनमे हमारे नमस्कार मे कोई अन्तर पैदा नही होता। हमारा नमस्कार तो परत्मामा के शुद्ध गुणो को होने के कारण एक जैसा ही होता है। रत्न, पत्थर या गोवर मे हमारा कोई वास्ता नही। पदार्थों के इस तरह के अन्तर मे दुनिया भुलावे मे नही आ सकती।

स्वामी श्री भीखणजी तो ससार में नही रहे पर उनके अनुयायियो से हम पूछते है कि इससे स्वामीजी ने क्या सिद्ध कर दिया ? गोवर की प्रतिमा न वना कर पूजने से, क्या प्रतिमा वन्दन वुरा सिद्ध हुआ या गोवर वुरा सिद्ध हुआ, या ऐसा उपयोग न लेने वाले भाई वुरे सिद्ध हुए ? इसको वे स्पष्ट करते ताकि हमें भी कुछ आगे सोचने का मौका मिलता। ऐसी ही समझ और परख पर यदि समाज को स्वामीजी पर गर्व है तो वात गर्व के लायक ही है।

आज परमात्मा की अनुपस्थिति में जव हम उनको नमस्कार करते हैं तो कुछ न कुछ हमारे सामने होता ही है। चाहे पेड हो, चाहे कोई प्राणी हो, चाहे दिवाल हो और चाहे कुछ भी हो। साधु मुनिराज को सिर झुका कर जव हम

नमस्कार करते है तो हमारा सिर पत्थर, धूल या उनके हाड़, मास से बने शरीर को स्पर्श करता है तो क्या हम धूल को नमस्कार करते है ? या साधु के उस शरीर को करते हैं जो अनेक प्रकार की अशुचियो—जैसे हाड़, मास, रुधिर, मल-मूत्र, आदि से भरा होता है ? यहाँ हमारा नमस्कार किस को है ? निश्चय ही हमारा नमस्कार गुणो के ही लिए है। सिर चाहे धूल या पत्थर का स्पर्श करे या उनके उस अशुचिपूर्ण शरीर का। इसी प्रकार हमारा वन्दन, हमारा नमस्कार, हमारी पूजा जिनेश्वर भगवान के गुणो के ही लिए है, प्रतिमा तो सिर्फ एक निमित्त मात्र है।

तीन निक्षेप पूजने योग्य नहीं

स्वामी श्री भीखणजी इसी प्रश्नोतर मे पहले फरमाते है—

. 'एक भाव निक्षेपो तो म्हे पिण वादा, पूजा छा। बाकी तीन निक्षेप नी चरचा रही।" यानी 'भाव निक्षेप' के सिवाय और किसी 'निक्षेप' को वे नही मानते। स्वामीजी ने कह तो दिया पर हम जैसे साधारण लोगो के लिए बिना तीन निक्षेपो के इस चौथे "भाव निक्षेप" का कोई आधार ही नही रहता। हमारे काम में आने वाले मुख्य निक्षेप, ये तीन ही हैं। भाव निक्षेप की यदि हम स्थिति समझना चाहे तो उसे हमारी शुक्लध्यान की अवस्था ही समझिये। असल मे भाव शब्द तो महापुरुषो के कहने की एक शैली मात्र है। जैसे और भी कई एक ठिकाने आते हैं—"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव,", "दान शील, तप, भाव" इत्यादि-२। स्वामीजी के हिसाव से क्या यहाँ भी "भाव" के सिवाय वाकी तीनो को नही माने ?

भगवान के नाम की माला जपते है तो 'नाम निक्षेप' का सहारा माने या नही ? साधु मुनिराज का दर्शन करते है तो 'द्रव्य निक्षेप' का साहारा माने या नही ? नही मानते है तो स्पष्ट करे वे अपने मन को गुणो मे कैसे आरोपित करते है ?

पर यह सब स्वामीजी कव सोचते ? चर्चा करते है 'नाम निक्षेप' की और वन्दने को कहते हैं कुम्हार के द्रव्य शरीर को। यह है निक्षेपो के सम्वन्ध मे उनकी समझ।

'नदी पार होना', 'फूल चढ़ाना' एक नहीं

एक जगह आचार्य श्री भिक्षु स्वामी फरमाते है कि मुनिराज का नदी पार करके जाना और श्रावक का फूल चढाकर परमात्मा की भक्ति करना एक सरीखा इसलिए नही कहा जा सकता कि वहाँ मन के परिणाम समान नही होते।*

कुछ भी हो स्वामीजी ने मन के परिणामो को स्वीकार तो किया। मुनिराज से हिंसा होने पर ही नही, हिंसा करने पर भी दया पूर्ण भाव होने के कारण उनके उस हिंसा-पूर्ण व्यवहार को भी धर्मपूर्ण ही माना। उनके शुद्ध निर्णय का यह एक अच्छा प्रमाण है। अस्तु, हम यह विवेचन करेंगे कि नदी पार होने में इनके क्या परिणाम रहे और फूल चढाने मे हमारे क्या परिणाम रहे, और 'फूल चढाने' के विषय में, सही निर्णय करने मे स्वामीजी कितने असफल रहे।

जैसा ये फरमाते है कि नदी सूखी मिले तो सूखी की तरफ से और नही तो जिधर पानी सबसे कम हो उधर ही से नदी पार करें चाहे उन्हे अधिक चक्कर खाकर ही क्यो न जाना पडे यानी बनती कोशिश गहराई की तरफ से कभी पार न करें, ताकि कम-से-कम जीवों की विराधना हो।

यह कहना ठीक वैसा ही है जैसे कोई साधु फरमावे "बाई, हम साधुओ के कौन से स्वाद, बिलोया हो तो ठीक नही तो बिना बिलोया ही ले लेगे।" विचारे गहराई की तरफ से तो इसलिए पार नही होते कि कही डूब न मरे, जीवो पर दया का यहाँ उनके जी में लेश-मात्र का लेखा ही क्या ? जीवो पर ही दया करनी होती तब या तो उल्टे पैरो ही लौट जाते या नदी सूखने तक प्रतीक्षा करते। कारण नदी पार होना, यहाँ उनके लिए अनिवार्य नही माना जा सकता। उन पर कोई ऐसी विपत्ति का पहाड नही टूट पड रहा था कि जिसके लिए यह कहा जा सके कि नदी पार करना उनके लिए अनिवार्य था।

हम भी जो उनकी नजरो में पक्के हिंसा धर्मी है—नदी पार होने के औचित्य को सिवाय उस पार धर्म उद्योत करने के और कुछ सिद्ध नही कर सकते पर ये

---

*...जद स्वामीजी बोल्या ..एक कानी सुकी तो म्है सुकी उतरां। पिण घणा पाणी वाली..टाला।...थारां परिणाम तो जीव मारवा रा अनै म्हारा परिणाम दया पालवा रा। (भिक्षु दृष्टान्त ९७, पृष्ठ–४२)

तो इतना भी नही कह सकते क्योकि अबोध जीवो को मार कर, तिरना और तारना इनके न्याय से कभी उचित नही ठहरता। ऐसी स्थिति मे ये हमें अपनी विवशता समझाएँ कि दया का भाव दर्शाते हुए भी निर्दोप जीवो को मारकर आखिर ये नदी पार क्यो होते है ?

फिर अधिक पानी मे होकर गुजरने की अपेक्षा कम पानी मे होकर गुजरने से जीवो की विराधना कम होगी यह कभी नही माना जा सकता। कारण जीवो की विराधना तो सघनता के कारण अधिक जल मे होकर गुजरने से ही कम होती। शास्त्रकारो ने भी फरमाया है—अधिक पानी बरसने पर, या फूलो की तह अधिक गहरी होने पर आवा-गमन किया जा सकता है अर्थात् तब विराधना नही होती है।

पाठक-वृन्द विचारे कि कम जल की तरफ से गुजर कर इन्होने हिंसा कम की या अधिक ? पर अफसोस ! इन्हें तो ख्याल रखना है अपने बचाव का और बहाना बनाते हैं जीवो के बचाव का। फिर भी मान ले कि कम जीव ही मरते हैं पर कम जीव मारने को ये धर्मपूर्ण कैसे कहते है और क्यो ऐसी हिंसा को ये जानबूझ कर अपनाते हैं ?

इसी प्रसग में –"काची कलिया नखा सु चुटी चुटी चढावा" ऐसा कहकर जो इन्होने गहरी चुटकी ली है, उस सम्बन्ध मे पाठक-वृन्द जरा विचारे कि यदि हमें फूलो ही की मौज लेनी है तो हम उन्हे पहन कर, उनके सरस पकवान बना कर, उनके इत्र-फूलेल बना कर मौज लेंगे या मदिर में उन्हे त्यागते हुए, चढाकर ? मदिर मे हमारा कठिनाई से १०-२० मिनट ठहरना होता है। फिर उन कलियो को वही त्याग कर क्या मौज ले लेगे ? क्या प्राप्त कर लेगे ? उत्तम-और ताजे-२ फूल चढाने का भाव निश्चय ही हमारा होता है पर क्या हमारी यह भावना हिंसा से सम्बन्धित है ? विषय-वासना से सम्बन्धित है ? तब, क्या मुनिराज हमारे घर आहार लेने पधारे तो सूखा, गला, सडा, फेकने लायक या कम से कम देने का भाव रखना हमारे लिए अच्छा होगा या अधिक से अधिक और उत्तम से उत्तम वस्तुओ को देने का भाव रखना अच्छा होगा ? मुनिराज को जो आवश्यक होगा उतना ही लेगे पर हमारे भाव किस प्रकार के रहने चाहिए ? निश्चय ही मुनिराज को आहार इत्यादि देते समय–"अधिक से अधिक दे, अच्छा से अच्छा दें", यह भावना ही

यह स्वामी श्री भीखणजी ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा है। जिसका भूमिका लेखक ने भी बडा गर्व अनुभव किया है। किन्तु प्रश्न का स्पष्ट उत्तर न तो स्वामीजी ने दिया है, और न भूमिका लेखक ने अपनी भूमिका मे ही। इसमे क्या चतुराई है, पता नही। शायद 'पाप' शब्द के उच्चारण से थोडा पाप लगता हो, उत्तर को और अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न हो; कही मौका पडने पर निकलने के लिए फाक रखी हो, सत्य कहने में संकोच आ गया हो या हम लोगो की बुद्धि के नाप के लिए ऐसा किया गया हो। कुछ भी हो, उत्तर गोल-मटोल है। अस्तु, जहाँ तक हमारी धारणा है स्वामीजी श्री के कहने का भावार्थ यही रहा होगा कि–"उसे पाप ही होता है।" कारण स्वामीजी ने, न तो 'धर्म' होता है ऐसा कहा है और न यहाँ उनका समर्थन ही झलकता है।

आप चाहे इसे किसी भी दृष्टि से देखे तो भी स्वामी श्री भीखणजी का निर्णय हर अपेक्षा से एक दम गलत मालूम पडेगा और एक क्षण के लिए आप निस्तब्ध हो जाँयेगे तथा आपको ऐसा सन्देह होने लगेगा कि "स्वामीजी श्री" जैनी भी थे या नही !

निर्दोष चीटियाँ और अज्ञानी बच्चा हमारे सामने है। जब बच्चा चीटियाँ मार रहा था, बच्चे के हाथ से हमने पत्थर छीना। पहला ही प्रश्न होगा—"किन भावो से प्रेरित होकर ?" हमारा उत्तर है—"चीटियाँ बचे और बच्चा जीव मारने का हिंसक कार्य न करे।"

बच्चे से कोई हमारा द्वेष नही और चीटियो से कोई सांसारिक अनुराग नही। कोई भी निर्दोष जीव न मारा जाय, न सताया जाय, हमारा यही भाव था। व्यवहार से, प्रत्यक्ष मे–पत्थर छीनने से चीटियाँ जान से बची और बालक चीटियाँ मारने के पाप से बचा। पूर्ण निश्चय पूर्वक यह नही कहा जा सकता पर इसमे शायद इतनी कमी रह गई हो तो रह सकती है कि बच्चे को हमारा यह व्यवहार उसकी अज्ञानता के कारण, कठोरता का लगा हो, अपने इस विनोद में बाधा जान कुछ दु:ख हुआ हो, कुछ क्रोध हुआ हो या बुरा माना हो। पर ज्ञान की दृष्टि से हमारा वह कार्य उसके हक मे सोलह आना ठीक था। पाठक-वृन्द सोचें, क्या हमने पत्थर छीनकर भूल की ? क्या पत्थर छीनकर हमनें पाप मोल लिया ? पत्थर न छीनते तो ठीक रहता ? यदि

पत्थर न छीनते तो क्या परिणाम होता ? यही न कि और अधिक चीटियाँ मारी जाती और वच्चे के पापो की वृद्धि होती।

आगे कुछ विचारने के पहले क्या हम एक क्षण के लिए सोचें कि वच्चे को इस तरह के कार्य से पाप नही होता ? उसके मन मे न तो चीटियो के प्रति कपाय है और न अन्य किसी विषय-पोपण की भावना ही उसके मन में है। वह तो अज्ञानता वश ही यह कार्य कर रहा है जिसके भले-बुरे का उसको भान ही नही है। पर नही, ऐसा अज्ञान किसी को जीवन पर्यन्त रह सकता है। अनेक पशु-पक्षियो मे तो ऐसा अज्ञान होता ही है। जयणा सहित जव तक कार्य नही होगा, जीव मारे जाने का पाप जरूर लगेगा, भले ही कुछ हल्का लगे।

यहाँ पत्थर न छीनने से सम्भव है वच्चे को हल्का ही पाप लगता या न भी लगता पर अन्य भयानक परिणाम तो अवश्य होते।

आप आश्चर्य करेंगे कि और क्या भयानक परिणाम होते ? तो देखिए—वच्चा जव चीटियाँ मारता, वचाने में पाप समझ, विना सिद्ध वने ही सिद्ध वने का सा ढोग अपनाते हुए हम न वचाते तो दूसरो को वीच में पड वचाने की जरुरत ही क्यो पडती और उन्हें भी 'वचाने के पाप' में हम क्यो पडने देते जैसा कि स्वामीजी श्री ने हमें पाप में फँसने से वचाना चाहा है। तव साधारण व्यक्ति होने के नाते वे तो इसे कौतूहल या मनोरजक दृश्य समझ, खडे-२ हँसते हुए देखते और खूब प्रसन्न होते। लोगो को खुश होते देख दूसरे वच्चे भी खुश होते और इसे अच्छा खेल समझ भविष्य मे इसका अनुकरण करते हुए ऐसी ही चेष्टायें करते। जैसे आज भी अज्ञानी व्यक्ति चिडिया-घरो मे वडे-२ जानवरो को छोटी-२ मछलियाँ खिलाने मे वडा आनन्द मानते है। सोचिये, कितनी महान् हिंसा का उदय होता ? भविष्य के लिए लोगो के हृदय कठोर और निर्दयी वनते और हिंसा से घृणा जाती रहती। हमारे पत्थर छीनने से वच्चा और चीटियाँ ही नही वची वल्कि हम देखने वालो के जी में भी जीवो को दुख न देने की भावना उत्पन्न हुई, जीव मारने की क्रिया के प्रति घृणा उत्पन्न हुई, करुणा का भाव उत्पन्न हुआ। दूसरे वच्चो ने भी इस तरह के कार्य को न करना उचित समझा। यदि ऐसे कार्यो से भी कोई हमारे हाथ मे पत्थर ही आया मानें तो उनकी वुद्धिमानी की जितनी प्रशसा की जाय वह थोडी है। फिर तो किसी का हीरो का हार छीनने से हीरे हाथ लगेंगे।

स्वामी श्री भीखणजी ने इसे क्यो पाप पूर्ण समझा और वह क्यो अनुचित है ? इस सम्बन्ध मे विचार करना यहाँ उचित है। "मरने वाला मरता है, मारने वाला मारता है, कोई बुरा मानेगा कोई भला, हम बीच में पड व्यर्थ राग, द्वेप क्यों मोल लें ? हम अपनी तटस्थता को क्यो त्यागे ?" ऐसी तटस्थता का भग जान, या अपनी शान्ति और स्वाध्याय मे बाधा जान, बुरा समझा हो तो ऐसा हो सकता है। बालक उपदेश से (ज्ञान से) न बचाया जाकर शक्ति-पूर्वक,'पाप' से बचाया गया इसलिए बुरा समझा हो तो ऐसा हो सकता है। "अव्रती चीटियो को बचाने के उद्देश्य से कार्य किया गया", इसलिए बुरा समझा हो तो ऐसा हो सकता है। और तो कोई कारण दिखाई नही देता।

पर सिद्धो जैसी तटस्थता की नीति तो स्वामीजी भी नही अपना सके। उनके शिष्य भी नही अपना सके। आज भी उनके शिष्य नही अपना रहे है। उपदेशो का तारतम्य तो जोरो से चालू ही है। भवि जीवो को तारने का ठेका तो उनकी तरफ से चल ही रहा है। तब ऐसी तटस्थता या अक्रियशीलता की वकालत वे किस मुँह से करे ? इसलिए इस सम्बन्ध मे हम निश्चिन्त हुए।

"अब शक्ति-पूर्वक जीव को पापो से बचाने और अव्रती जीव के जीवन को बचाने पर," विचार करना शेप रहा। पर स्वामीजी ने भी ज्ञान द्वारा समझा कर हिंसा छुडाने को तो धर्म पूर्ण ही माना है।*

तब इतना कहा जा सकता है कि बालक को पाप से बचाने के लिए, उपदेश द्वारा उसका वह पाप-पूर्ण कार्य उसी से रुकवा सकते तो स्वामीजी श्री को हमें अवश्य अच्छा समझना ही पडता जैसा कि बकरे मारने वाले के उद्धार पर, उन्होने अपने शिष्यो को अच्छा समझा है। तब चीटियो के बचने पर भी, उनको बचाने का कोई प्रश्न ही खडा नही किया जाता और न उस कार्य को बुरा ही माना जाता।

स्वामीजी ने अपने शिष्यो को इस तरह अच्छा तो समझा पर मन की भावनाओ को अभी अलग रख कर हम यह देखे कि उन मुनिराजों और हमारे

---

*भिक्षु दृष्टान्त १२८, पृष्ठ—५४

...जद स्वामीजी बोल्या : ज्ञान सुं समझाय ने हिंसा छोड़यां तो धर्म छै।

कार्य-करने के बाद व्यावहारिक दृष्टि से क्या फरक रहा ? सम्भवत कुछ भी नहीं। बकरे मारने वाला बकरे मारने के पाप से बचा और चीटियाँ मारने वाला चीटियाँ मारने के पाप से बचा। मारे जाने वाले बकरे जान से बचे और उधर मारी जाने वाली चीटियाँ जान से बची। यहाँ चीटियो और बकरो का बचना तो बिल्कुल समान है। बचने पर दोनो ही अव्रती हर्षित हुए और अपने-२ रास्ते गये।*

रहा मारने, मारने वालों मे, तथा मारना छुडाने वालो में भेद। मारने वालो में—बकरे मारने वाले में अधिक समझ है, ज्ञान सहित हिंसा को बुरी समझी है, हिंसा न करने का व्रत लिया है यानी ज्ञान सहित, भाव सहित महान् पाप को छोड़ा है। फिर संत पुरुषो के गुणों की अनुमोदना की है, उपकार माना है, इसलिए धर्म भी किया है। उधर चीटियें मारने वाला तो अबोध बालक है। जीवों को मारना उसका जरूर बद हुआ पर हुआ उनकी बिना समझ और सुधार के। वर्तमान मे लाभ इतना ही कि आगे और अधिक चींटियाँ मारने का जो पाप उसे लगता वह उसे नही लगा। यहाँ यह भी कोई कह सकता है कि हमारे कठोर व्यवहार मे या अपने खेल के अतराय के दुख से क्रोध आने के कारण बच्चे को कुछ पाप भी लग सकता है पर ऐसा क्रोध तो शुरु-शुरु में प्राय सभी जीवो को हुआ करता है। बकरे मारने वाले को भी उपदेश के समय पहले-पहल उपदेश अच्छा नही लगा हो। सम्भव है गुस्से मे उसने भी ऐसा सोच लिया हो—"यह बला कहाँ से आ टपकी, मेरे को नही तो न सही पर बच्चो को तो बहका कर ही छोड़ेगा। क्या इसे और धधा नही है, जाओ दूसरी जगह देखो। ऐसे उपदेश बहुत सुने है, अपना और दूसरो का समय, क्यो नष्ट करते हो, आदि।" कई बार तो अज्ञानी—बालक ही नही, बडी उमर वाले भी उपदेशको से मारपीट तक कर बैठते है, गालियाँ बक देते है। फिर भी कोई अपना सद्-प्रयत्न बद थोडे ही करता है या उसे बुरा थोडे ही मान लेता है। मुनिराजो ने भी अपना प्रयत्न किया और हमने भी अपना प्रयत्न किया। हो सकता है उनका प्रयत्न अधिक सफल रहा हो। पर किसी की शक्ति कम हो या साधन कम हो

---

*भिक्षु दृष्टान्त १४८, पृष्ठ–६२... कसाई सावांरा गुण गावै मौने हिंसा छोड़ाई तार्यो। बकरा जीवता बचिया ते पिण हरखित हुआ।

और इन कारणों से उसकी आमदनी कम हो तो यह किसके हाथ की वात है। मुनिराज व्याख्यान देते हैं सवके लिए एक समान। उसी व्याख्यान से कई अधिक लाभान्वित हो जाते है, तो कई कम ही रह जाते है। वतलाइये, इसमें मुनिराज का क्या दोप ? उसी तरह वालक को या हमको कम लाभ मिला, तो इसमे उस प्रयत्न का क्या दोप ? पाप या धर्म की मात्रा तो जीवो के भावो की उत्पत्ति पर ही निर्भर है।

यदि कम खर्चवाले के कम आमदनी हो तो उतने अफसोस की वात नही। वच्चे के हल्के ही कर्म वधते है तो लाभ भी हल्का ही होता है। लाभ न भी होता हो, हानि ही यदि कम हो तो भी लाभ ही समझा जाता है। फिर जिस जीव का जैसा सयोग। पापो से वचाने वालो के प्रयत्न के हिसाव से उन्हें उतना लाभ अवश्य मिल जाता है जितना उन्हें मिलना चाहिए। चाहे समझने वाला समझे या न समझे। माने या न माने। क्या आप कह सकते हैं कि वकरा मारने वाला यदि न समझता तो मुनिराज को उस प्रयत्न से धर्म का लाभ होता ही नही ? नही, ऐसी वात नही है। धर्म का लाभ तो अपने उत्तम भावो पर ही निर्भर है, किसी दूसरे पर आश्रित नही। अभवि जीव अनेक जीवो के उपकार का कारण वनने पर भी उसे कुछ नही मिलता। इसका कारण उसके हृदय के भावो का मैलापन ही है। हाँ, किसी के समझ जाने से, धर्म का अधिक उद्योत देख, अधिक उल्लसित होने के कारण, कोई अधिक लाभान्वित भी हो जाता है यानी लाभ अपने भावो पर ही निर्भर है।

चीटियाँ न मारने के कारण वच्चा भी पाप से वचा और वकरे न मारने के कारण वकरे मारने वाला भी पाप से वचा। इतना लाभ तो दोनो का हमारे सामने स्पष्ट है वाकी और क्या-२ लाभ, या हानि उन्हे हुई यह तो केवली भगवान ही जानें। यहाँ तक तो मुनि महाराज का और हमारा प्रयत्न समान रहा। इधर वकरे वचे, उधर चीटियाँ वची, इधर वकरे मारने वाला पापो से वचा, उधर चीटियाँ मारने वाला भी पापो से वचा। अव रहा यही देखना कि वचानेवालो मे क्या अन्तर है ? यहाँ एक को तो स्वामी श्री भीखणजी धर्म की प्राप्ति और दूसरे को पत्थर की प्राप्ति यानी पाप की प्राप्ति वतलाते है। ऐसा क्यो ?

यही हमारे मुख्य विचारने की वात है। यहाँ स्थिति यह है कि उनका पात्र एक ज्ञानवान व्यक्ति है और हमारा पात्र एक अज्ञानी, अवोध वालक।

फिर इन त्यागी, तपस्वी, ज्ञानवान महापुरुषो के और हम जैसे अल्प-ज्ञानियो के कार्य में समानता कैसे हो सकती है ? कहाँ उनकी सामर्थ्य, कहाँ हमारी सामर्थ्य ! पर पाठक-वृन्द, निर्णय के समय आप इतना ध्यान जरूर रखें कि करोडपति के पाँच सौ रुपये से, रोज कमाकर पेट भरने वाले गरीब की एक पाई भी अधिक मूल्यवान होती है।

उन्होने अपने उद्देश्यानुसार अपना तरीका अपनाया और हमने अपने उद्देश्यानुसार अपना तरीका। मुनिराज ने उपदेश देकर हिंसक का हृदय परिवर्तित किया, मन से हिंसा छुडवाई और कुमार्ग से उसे सुमार्ग पर ले आये पर हम यह सब नही कर सके कारण हम तो कमजोर है ही, हमारा पात्र भी अति कमजोर है। हम भी बच्चे को उपदेश द्वारा ही उस पाप से बचाते। हम भी जानते है कि काम समझ और प्रेम से ही निकालना चाहिए। सुधार का यही सही मार्ग है। हम थोडे ही चाहते थे कि बालक के साथ कठोरता से काम ले या वह हिंसा का स्वरूप न समझें या ज्ञान सहित समझ कर हिंसा न छोडे। पर हम लाचार स्थिति मे थे। चाहने पर भी यह अवलम्बन नही ले सके। एक तो अबोध बालक उपदेश को समझते नही और शायद कुछ समझते हो और समझाये भी जाँय तो भी उद्दडता या चचलता के वशीभूत शीघ्र मानते नही। इतना समय हाथ मे कहाँ था कि कुछ और सोचा जाय। समय रहता तो शायद खिलौने इत्यादि अन्य प्रलोभन की वस्तुएँ सौंप, उसको प्रसन्न कर, उसका ध्यान मारने से हटाते हुए अपने उद्देश्यानुसार चीटियाँ और उसको बचा लेते या समय और साधन उपलब्ध होते तो बिना उसके खेल मे अतराय दिये यानी स्वामीजी द्वारा कथित बिना उस पाप-पत्थर को छूए, चीटियो को ही हटा देते जैसे शिष्य अपने गुरु के पाट पर विराजने के लिए, ओघे से पूज कर धूल हटाया करते है। पत्थर न छीन कर, बालक का हाथ पकड अलग लेते हुए चीटियो को बचाने की बात भी कह सकते हैं पर इस तरह कहने से तो हमारे हाथ, पत्थर की जगह बालक ही आ जाता और तब स्वामी श्री भीखणजी और उनके अनुयायियो को चुटकी लेते हुए एव उत्तर देने की अपनी विचक्षणता पर मोद मानते हुए, बचाने वालो के हाथो पत्थर पकडाने मे जो मनोरजन हुआ वह नष्ट हो जाता।

बालक पाप से बचा यह बुरा नही। बालक को पाप से बचाने का प्रयत्न भी बुरा नही। स्वामीजी के विचारानुसार बचाना चाहिए था ज्ञान से समझा

कर। इस उपयोग से काम बनता न देख मान लीजिए पत्थर छीन कर हमने शक्ति से काम लिया पर शक्ति के प्रयोग से किसी जीव को तो नही मारा। जुल्म हुआ तो इतना ही कि बालक के विनोद मे कुछ कमी पडी। पर ऐसा विनोद भी किस काम का जिसमे जीवो का हनन होता हो। जैनी ऐसे विनोद का समर्थन नही कर सकते।

बालक अबोध होने के कारण उसके साथ हमने शक्ति का प्रयोग जरूर किया पर किया गया यहाँ उसी के पूर्ण हित की दृष्टि से। यहाँ बालक को नही बचाया जा रहा है, बचाई जा रही है बालक के पापो की वृद्धि। अबोध जीवो के हित की दृष्टि से किये गये ऐसे शक्ति के प्रयोग को कोई बुरा कह ही कैसे सकता है ? जब कि मुनिराज स्वय अबोध जीवो के प्रति रात और दिन शक्ति का प्रयोग किया करते है। इनमे आचार्य श्री भीखणजी के सुशिष्य भी सम्मिलित है। पाठक-वृन्द देखे, जगह पूज कर सूक्ष्म जीवो को ये दूर फेकते हैं या नही ? मुँह पर या भोजन पर बैठी मक्खी को झटके से उडाते है या नही ? तो क्या यह शक्ति का प्रयोग नही है ? पूजने में बिच्छू या साप आ जाय तो ये मुनिराज शक्ति के प्रयोग में कुछ तीव्रता लाते हैं या नही ? लाइये ना यह ज्ञान काम में ? शक्ति का प्रयोग क्यो ? हमने शक्ति के प्रयोग से यदि उस बालक का जीव दुखाया या अतराय दी तो यहाँ मुनिराज ने क्या किया ? शक्ति का प्रयोग करके क्या मक्खी का जी नही दुखाया ? बेचारी किसी आशा से भोजन पर आकर बैठी थी, उनके मुँह पर बैठी थी। झपट्टा देकर उडाने से क्या मक्खी का जीव नही दुखा ? क्या मुनिराजो को ऐसे अव्रती जीवो को बचाने से पाप होता है ? शक्ति का ऐसा प्रयोग क्या अनुचित है ? उन्होने शक्ति को काम में लेकर किन्ही जीवो के प्राण ही बचाये है पर हमने तो शक्ति के प्रयोग से किसी जीव को, पापो से बचाया है। फिर भी क्या हमारा यह व्यवहार बुरा माना जायेगा ?

जहाँ अबोध जीव की सम्पूर्ण भलाई से मतलब हो, शक्ति से कुछ काम ले भी ले तो भी उसे अनुचित नही कहा जा सकता। इसलिए हमारा बालक के हाथ से, उसको पाप से बचाने की दृष्टि से पत्थर को छीन लेना, बिल्कुल उचित था— धर्म पूर्ण ही था, ऐसा तो सम्भवत. स्वामीजी के अनुयायी भी मानेंगे।

तो बच्चे की भलाई की दृष्टि से किया गया काम और बकरे मारने वाले की भलाई की दृष्टि से किया गया काम लाभ की दृष्टि से एक समान हैं इसलिए

यहाँ मुनिराज के उद्देश्य मे और हमारे उद्देश्य मे कोई अतर नही। अब जो कुछ अतर है वह इतना ही है कि वे बकरो को बचाने की दृष्टि से कार्य बिल्कुल नही करते हैं और हमने पहले से ही प्रधानत चीटियो को बचाने ही की दृष्टि से इस कार्य को शुरु किया। मुनिराज के और हमारे भावो मे अतर है तो यही है और यह अतर भी बहुत बडा है। ठीक कौन है, इसका पाठको को निर्णय करना है।

रकम व्याज पर देने वाला रकम उधार देता है अपने व्याज के लिए न कि उधार लेने वाले की भलाई के लिए। अब यदि उसकी भलाई होती है और उधार लेने वाला, उधार देने वाले का उपकार मानता है तो भी हम कह सकते है कि इस उपकार का अधिकारी उधार देने वाला नही है। मुनिराजो ने जब यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि बकरे की भलाई के उद्देश्य से उन्होने यह कार्य नही किया है तो ठीक है अब यदि उनके हाथो से बकरे की भलाई होती है तो भी उस भलाई का लाभ उन्हे नही मिल सकता।*

मुनिराज बकरे की भलाई के लिए कार्य नही करे यह उनकी अपनी इच्छा है पर सोच कर यदि देखा जाय तो, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, विशेष भलाई उसी की होती है। जैसे कि किसी स्त्री को सौभाग्यवती बनी रहने का आशीर्वाद देने पर, उसके पति का जीवन, न चाहने पर भी, अक्षुण्ण ही बनाया जाता है, उसी प्रकार आचार्य भीखणजी के शिष्य मुनिराजो ने चाहे बकरे के जीने की मगल कामना बिल्कुल न की हो पर बकरे मारनेवाले को समझाने का जो अथक प्रयत्न किया वह 'बकरे को जीवन-दान के पारितोषिक' से किसी प्रकार कम नही कहा जा सकता।

उनके कथनानुसार उस समय बकरे को बचा कर उसकी भलाई करने की भावना चाहे उनके हृदय मे रत्तीभर भी न रही हो पर उनकी महानता को देखते हुए यह तो शत-प्रतिशत कहा जा सकता है कि उस समय उनके हृदय में बकरे की बुराई करने की भावना तो अशमात्र भी नही थी। उत्तम पुरुष यदि भलाई न कर सके या न करें तो न भी करें, पर बुराई कभी नही करते। बकरे के बचने मे यदि बकरे का बुरा होता तो मुनिराज उस कार्य को करना स्वीकार ही नही करते। एक का बुरा करके दूसरे का भला करना मुनियो को कल्पता ही नही। आचार्य

---

*भिक्षु दृष्टान्त १२८, पृष्ठ ४५ .. पिण साधु बकरां नो जीवणो वाछै नहीं।

श्रीभिक्षु स्वामी का तो यह मूल सिद्धान्त था कि ऐसे जीवो के बीच में साधु तो क्या, श्रावक को भी नही पडना चाहिए जहाँ एक को अतराय और दूसरे को लाभ हो, एक का पोषण और दूसरे का नाश हो। लेकिन बकरा और बकरा मारने वाले के बीच बचाव मे मुनिराजो का पडना उन्होने भी अपने श्री मुख से उचित ठहराया है और जब उनके इस कार्य से बकरा बचता है तब इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि कम-से-कम बकरे के बचने मे बकरे का अहित तो नही है। इतना होने पर भी मुनिराजो ने बकरे के बचने को क्यो नही चाहा और क्यो नही उसको बचाने के उद्देश्य से कार्य किया, यह विचारणीय विषय है।

जहाँ इस तरह का प्रसग या स्थिति होती है, वहाँ हमे उपयोग और विवेक पूर्वक सब ओर ध्यान रखना ही पडता है। यदि हम सावधानी नही रखें और बिना सोचे समझे, कार्य प्रारम्भ कर दें और उसके कारण कोई अप्रिय घटना घटित हो जाय तो उसका दायित्व हमारा ही होता है। यही कारण है कि दीक्षा लेने वाले महापुरुषो से सम्बन्धित उनके कुटुम्बीजनो की भी राय लेनी होती है। शीलव्रत स्वीकार करने वाले पति-पत्नी दोनो की स्वीकृति ली जाती है। हालाकि यहाँ तो पूर्ण व्यक्तिगत आत्मोन्नति का प्रश्न है। अन्य किसी पक्ष को हानि पहुँचने या पहुँचाने का कोई कारण ही नही है। तब बकरे और बकरे मारने वाले, एक प्राण जैसे मामले के बीच में पड मुनि यदि यह कहते है कि बकरे से उनका कोई सम्बन्ध नही तो समझ लीजिए उनमे साधुत्व तो क्या, मनुष्यत्व भी नही है।

सफाई मे आचार्य श्री भिक्षु स्वामी फरमाते हैं कि जो जीव डूब रहा हो बचाने का प्रश्न तो उसके लिए ही पैदा होता है। जो डूब ही न रहा हो* उल्टे तिर रहा हो, उसको बचाने का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। पर बकरा और बकरा मारने वाले के प्रसग को देखते हुए ऐसा कहना नितान्त असगत है। इसका मतलब यह हुआ कि एक की क्रिया से दूसरा, किसी

---

*भिक्षु दृष्टान्त–१२८, पृष्ठ–५४.

...स्वामीजी बोल्या : साधु बुड़ता ने तारे। ...ऋण माथै करै तिणनें वरजै पिण उतारै तिण नें न वरजै।...मारन वालो तो कर्मरूप ऋण माथै करै है अनै बकरा आगला कर्मरूप ऋण भोगवै : उतारै है।...

प्रकार से सम्बन्धित ही नही। स्वामीजी के विचारानुसार बकरा मारने वाला तो डूब रहा था और बकरा तिर रहा था। पर यहाँ बकरे का तिरना कैसे माना जा सकता है ? इस तरह की असगत मृत्यु से ऐसा साधारण जीव कैसे धर्म प्राप्त कर सकता है ? कैसे कर्मों से हल्का हो सकता है ? फिर भी आचार्य श्री भीखणजी के कथनानुसार यदि यह मान लें कि बकरा इस प्रकार की मृत्यु का भोग, भोगकर अपने कर्मों को काटने में समर्थ हो रहा था, अपने ऋण को चुका रहा था तो मुनि यह जानते-बूझते उसके हित मे अतराय के कारण क्यो बने ? डूबता तो एक मारने वाला ही डूबता बाकी उसके हाथ से हजारो, लाखो बकरे तो कर्मों के भार से मुक्त ही होते, अपने ऋण से उऋण ही होते। लाखो तिरे और एक डूब भी जाय तब भी घाटे का काम थोडे ही होता ? उचित था मुनि ऐसे अवसर पर मौन रह जाते। मुनि के प्रयत्न पर, मारने वाले ने यदि उसे न मारा तो बकरा कर्म काटने का वह सुवर्ण अवसर ही नही पा सकेगा और तब निश्चय इस अतराय के कारण बनेंगे मुनि। भविष्य मे भी ऐसा सुयोग उसे मिलेगा या नही, भगवान जानें।

बकरा और बकरा मारनेवाला एक दूसरे के कार्य से कैसे सम्बन्धित है, कैसे प्रभावित होते है, यह समझना नितात आवश्यक है। एक बाप के दो बेटो की तरह वे यहाँ अपना-अपना अलग व्यापार नही कर रहे हैं कि जिसके लिए यह कहा जा सके कि एक तो ऋण चुका रहा है और दूसरा ऋणी बन रहा है बल्कि यहाँ तो प्रत्यक्ष डकैती है। एक लूटा जा रहा है और दूसरा लूट रहा है। एक मारा जा रहा है, दूसरा उसे मार रहा है। द्रव्य-दृष्टि छोड कर भाव-दृष्टि से भी यदि देखें तो भी यही देखेंगे कि हानि दोनो ही उठा रहे है। बकरा मारने वाला बकरा मार नही रहा है खुद ही मर रहा है यानी पापो मे डूब रहा है। बकरा भी मर रहा है और मरने को बाध्य किया जा रहा है यानी पाप करने को मजबूर किया जा रहा है। मृत्यु को सामने खडी देख और मरने की भयानक वेदना का अनुभव कर उसका रोम-२ कपित हो उठता है। उसका हृदय अत्यन्त भयभीत होता जाता है एव उसकी कातर दृष्टि मे असीम वेदना झलक उठती है। ऐसी असगत एव अयाचित मृत्यु के समय साधारण जीवो में इस तरह का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

दुर्गति से मरने पर प्रायः साधारण जीवो मे तीव्र कषाय उत्पन्न हो ही जाते है। तब बकरा भी पाप मे डूब रहा था या नही ? पर आचार्य श्री भीखणजी की समझ मे यह नही आया और उन्होने समझ लिया कि बकरा तो ऋण उतारने वाला यानी कर्मो को खपाने वाला जीव बन रहा है। मारने वाले दोषी पर तो इतनी करुणा और मरने वाले निर्दोषी की इतनी उपेक्षा ? वाह ! स्वामीजी वाह ! !

वस्तुत बकरे की मृत्यु ने ही मुनिराजो को बकरे मारने वाले को समझाने के लिए प्रेरित किया। अपने कार्य से बकरे को प्रत्यक्ष बचता देख, बचाने की जिम्मेवारी से हाथ खीच लेना कानून की ओट मे सत्य का शिकार है।

"यदि यह कहें कि प्राणी की रक्षा हम कहाँ-कहाँ करेगे ? यह न तो हमारी जिम्मेवारी है और न पूर्ण हमारे सामर्थ्य के भीतर ही। एक बार प्रयत्न से किसी को बचा भी देगे तो भी समस्या सुलझ थोडे ही जाती है। न मालूम वह आगे चल कर बचा रह सकेगा या नही और बचा रह भी गया तो भी न मालूम वह आगे कौन-२ से अनर्थ करेगा, कारण अव्रती जीव जो ठहरा। इसलिए न तो ऐसा उद्देश्य बनाना ही और न ऐसे उद्देश्य को लेकर कार्य करना ही उचित है।"

हे मेरे सर्वज्ञों की बराबरी करने वाले अवज्ञ ! हम हमारे सामर्थ्य और क्षेत्र की मर्यादा एव आवश्यकता का विचार करें। सभव है हम किसी जिम्मेवारी मे न भी बंधे हों, हमारे किये सब कुछ न भी होता हो—तब भी जितना सभव हो उतना सहयोग ही रक्खे। किसी की थोडी-सी भलाई करना भी हमारी भलाई ही कही जायेगी, हमारी महानता ही मानी जायेगी। फिर जो उनके भाग्य में लिखा है, वही होगा। बकरे मारने वाले को उपदेश देकर, आप उसे भी पाप से न बचाते तो आपके ऊपर इसके लिए कोई दोषारोपण थोडे ही किया जाता। सभी मारने वालो को समझाने के लिए न तो उनके पास आप पहुँच ही सकते हैं, और न सबको समझाने मे सफल ही हो सकते हैं। आप से जितना संभव हुआ उतना आपने किया। इस थोड़ी मात्रा को भी बुरी कैसे माने ? यह तो आपके हृदय का पूर्व अर्जित अत्यन्त दया और करुणा का भाव ही था जिसने आपको उस हिंसक का हृदय परिवर्तन करने के लिए प्रेरित किया।

प्राण-रक्षा के अवसर पर 'व्रत, अव्रत' की ओट मे अकारण भविष्य की गहराई में जाना,पाप समझना और प्राणी की प्राण रक्षा करनेमे अपने सामर्थ्य का जान-बूझ कर प्रयोग न करना भयकर भूल ही कही जायेगी। व्रती कौन से अव्रती नही बनते और अव्रती कौन से व्रती नही बनते ? ऐसे मौके पर गलत दृष्टान्त से भाइयो को भ्रम में डाल, कर्त्तव्यच्युत करना घोर पाप है।* बकरे मारने वाले को उपदेश देकर जो उससे हिंसा छुडाई, आपने उपकार किया और उसे धर्म माना, विपरीत प्रतिक्रिया तो उसमें भी उत्पन्न हो सकती है। बचे हुए बकरे किसी का खेत उजाड सकते है। किसी की धान की बोरियो में मुँह डाल, हानि पहुँचा सकते हैं। ऐसे अवसर पर यदि क्रोधवश कृपक या दूकानदार बकरे पर डडा उठाने के साथ-साथ आप पर भी डडा उठाले और कहने लगें—"मरी खाय इन उपदेश देने वालो को, आग लगे इन उपदेशो में। उपदेश दे दे कर सत्यानाश कर दिया। मार रहे थे, नही मारने दिये। अब इसके कडवे फल भोगे हम, इत्यादि।"

यही क्यो, बाल-दीक्षा के लिए भी कितने उग्र विरोध आते हैं। भगवान के दो शिष्य भगवान के सामने ही मार डाले गये। गजसुकमालजी के मस्तक पर अगारे रख दिये गये। बहुतो की खालें खीच ली गईं। पाँच सौ क्षमावन्त मुनिराज घानी में पिलवा दिये गये। शास्त्र और साहित्य की होली जलाई गई। बतलाइये, आप क्या करेंगे ? ससार की तो यही धारा है। विरोधी तो अच्छे का-भी विरोध कर बैठते हैं। तो क्या आप उपदेश देना बद कर देंगे ? क्या आप अपने सत्य के मार्ग को छोड देंगे ? या धर्म-ध्यान से मुँह मोड लेंगे ?

मान लें कि किसी जीव को व्यवहार से बचाना उचित ही नही समझते तो फिर उसके लिए दूसरो को "न मारने का उपदेश" देना भी उचित नही ठहरता।

मृत्यु के समय प्राणी को जो कष्ट होता है उसी के लिए ज्ञानी पुरुषो ने किसी प्राणी को मारने में पाप बतलाया है। वस्तुत. किसी प्राणी को यह वेदना न

---

*भिक्खू दृष्टान्त–१४०, पृष्ठ ५८

...संसार नो उपकार इसो है। मोक्ष नो उपकार करै ते मोटो तिण में कोई जोखो नहीं।

पहुँचाई जाय यानी उसका जीवन बना रहे, यही तथ्य सामने आता है। मुनि-राज भी यही चाहते हैं कि प्रत्येक प्राणी के जीवन में शान्ति बनी रहे। वे भी सबको "आत्मवत् सर्व भुतेपु" समझते है।*

फिर यह क ना कि प्राणी के जीने को अच्छा नही समझते या उसके जीने को नही च हते या उसकी जीवन-रक्षा के लिए कोई कार्य करना नहीं चाहते, सचमुच आश्चर्यजनक है।

हकीकत यह कि 'अव्रती जीवो के जीवन को बचाना पाप है' ऐसा समझ, ये सब तरफ से उलट गये। उचित था ये न उपदेश देने से मतलब रखते न किसी को तारने से। सिद्धो की तरह ध्यान लगाये बैठे रहते। दुनिया की भलाई मे भी पडना और तथ्यातथ्य का ध्यान न रखते हुए उसी को पाप पूर्ण बताना अत्यन्त शोचनीय है। उनका उद्देश्य कितना त्रुटि और कपट पूर्ण है, इस सम्बन्ध में यहाँ विचार करना आवश्यक है। भविष्य का फलाफल समझ मे न आया हो या अच्छा समझने के बाद भी कर्म सयोग से विपरीत वातावरण में चला गया हो तो बात दूसरी है। फलाफल को स्पष्ट जानते हुए और अपने ही मुख से प्रारम्भ में बचाने के लिए पूरी तरह दलीलें देते हुए भी, जैसे—'अरे बकरे को मत मार' ‡‡ ; फिर ऐसा कहना कि 'बकरे के जीवन से हमारा कोई मतलब नहीं', उनके कपट का पहला चरण है। कपट का दूसरा चरण, बकरे की अकाल और असगत मृत्यु से कर्मो के भार को हल्का समझना और तीसरा

---

* भिक्खू दृष्टान्त–२३६, पृष्ठ ९६

... । स र्व जीव पिण इम हिज जाण। मार्‌यां दुःख पावे है।

भिक्खू दृष्टान्त-भूमिका, पृष्ठ १०

... । "अ ात्मवत् सर्व भूतेषु" की भावना के वे (भीखणजी स्वामी) एक सजीव प्रतीक थे। 'छहों ही प्रकार के जीवों को आत्मा के समान मानो' भगवान की यह वाणी उनकी (स्वामीजी की) आत्मा को भेद चुकी थी।

‡‡ भिक्खू दृष्टान्त–१२८, पृष्ठ ५४

...समझावे, 'बकरा नें मारयां तूं गोता खासी।...

भिक्खू दृष्टान्त–१४८, पृष्ठ ६०

... । बकरा मारवा रा जाव जीव पचखाण कराया।...

चरण बकरे के बचने में जो धर्म का लाभ मिलता है उसे न समझना है। यानी इनका उद्देश्य भूलो से भरा हुआ है। विषय की गभीरता को न समझ ये अपनी डफली बजाने में ही मस्त हैं।

जहाँ दो जीव आपस मे जूझते हो, एक को छुडाने का अर्थ ही दूसरे को छुडाना है। कारण एक का छोडना और दूसरे का छूटना एक समय में ही घटता है। तब फिर निरपेक्ष व्यक्ति तो दोनो की भलाई चाहता है और दोनो की भलाई को दृष्टिगत रख कर कार्य करता है। एक से मतलब रखना पक्षपात पूर्ण है, पाप है। कह नही सकते आचार्य श्री भीखणजी यह क्यो नही समझ पाये।

हम भी दोनो जीवो के बीच में पडे बालक और चीटियो के। दोनो को बचाने की दृष्टि रखते हुए भी चीटियो से हमारी विशेष सहानुभूति रही क्यो कि चीटियाँ निर्दोष थी। उनके प्रति अन्याय किया जा रहा था। उन्होने ही हमें पुकारा, 'बचाओ'। मरने की वेदना को लक्ष्य कर हमे रोमाच हो आया। हृदय मे दया उमड पडी। 'चीटियाँ बचें एव बालक उन्हे दुःख न दे, उन्हे न मारे' यह हमारे हृदय की पुकार थी। चीटियो से हमारा कोई सासारिक स्वार्थ नही। 'सभी को जीवन प्यारा है' ऐसा समझ हमने बालक के हाथ से शीघ्र पत्थर छीना और मन ही मन कहा–"रे नादान हमारे सामने यह क्या अनर्थ कर रहा है ? जीवो को दुःख देकर, उन्हे अशाता पहुँचा कर, उनके आत्म-प्रदेश में अनन्तानन्त कषायो की वृद्धि का कारण बन क्यो पाप का भागी हो रहा है। पत्थर छोड, ऐसा पाप का भागी मत बन।" इधर चीटियो को भी बचने पर महान् हर्ष हुआ जैसा सभी जीवो को होता है। उनका रोम-रोम उत्फुल्लित हो यह कहेगा (कहा होगा), "हे बचानेवालो, हे प्राणदान देनेवालो, आपने बडा उपकार किया। हमे बडे क्लेश से बचाया। इस दुर्गति-पूर्ण मरण से उत्पन्न हुए महान् कषायो के उदय मे और महान् आर्त, रौद्र-ध्यान की चपेट से न मालूम हम किस नरक मे जाकर गिरती। आपने बचाया, आपका धर्म अति निर्मल है। हमे भी कभी ऐसा मनुष्य-भव मिलेगा ? ऐसा धर्म मिलेगा ? हमें भी कभी दुःखी जीवो के प्रति उपकार कर, ऋण से उऋण होने का ऐसा सुयोग मिलेगा ? हे भाग्यशाली, आप महान् उपकारी है, आदि।"

बचने पर प्राय जीव, बचानेवाले के धर्म की अनुमोदना किया ही करते है और ऐसे प्रयत्न से यदि वे समकित को भी स्पर्श कर ले, तो कोई आश्चर्य नही।

बचाने से धर्म की अनुमोदना होने से धर्म की वृद्धि होती है और कषायो का उदय न होने से पापो की वृद्धि रुकती है। साधरणतया जीव बचाना धर्म और मारना पाप है।

यद्यपि यहाँ मारने वाले और मरने वाले दोनो पक्षो का हम अन्त करण से भला चाहते है फिर भी मरने वाले जीव के साथ ही हमारी विशेष सहानुभूति होती है और उसी के हित को हम प्राथमिकता देते है। यह किसी पक्षपात की दृष्टि से नही बल्कि इसके कई अन्य कारण है। प्रथम, मरने वाला जीव यहाँ निर्दोष है और मारने वाला ही पूर्णतया दोषी है। इसलिए इस पाप को रोकने के लिए उसे रोकना ही एकमात्र उपाय है जिसे अपनाने पर ससार की दृष्टि में हम पक्षधर से लगते हैं यानी मरने वाले जीव के साथ हमारा राग है, ऐसा दूसरो को अनुभव होता है। यह उनका भ्रम है। राग ही यदि होगा तो हमे अपने बच्चे से होगा या चीटियो से ? दूसरे, यह कि मरने वाला जीव मारे जाने पर, ऊँचे उठने के सम्पूर्ण अवसरो से ही वचित हो जाता है और उल्टे कषायो के वशीभूत भारी कर्मी होकर न मालूम कहाँ का कहाँ भटक जाता है। इसके विपरीत मारने वाले जीव के हाथ मे अवसर रहता है और शुभ सयोग पाकर वह अपने पापो को धो सकता है। तीसरे, मरने वाला ही यहाँ कमजोर है, दुखी है और हम से लाचारी मे करुणा भरी पुकार करता है। इसलिए आपस के सहयोग की दृष्टि से भी उसे बचाना ही हमारा प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। सभव है हम भी इस ससार मे कभी ऐसे सकट मे फँस जाँय और हमें भी किसी बचाने वाले की आवश्यकता आ पडे। चीटियाँ ही मारी जाती हैं, मनुष्य नही मारे जाते, यह बात तो नही है। यही कारण है कि उसी के लिये हमारे हृदय मे अधिक सहानुभूति जागृत होती है और उसी को बचाने के ध्येय से कार्य शुरू करते है। आप ही बतलाइए आप पक्ष दोषी का लेगे या निर्दोषी का ?

एक शका को अब भी अवसर है कि "चीटियाँ अव्रती थी और उनको बचाना तो प्रत्यक्ष अव्रत का ही पोषण है, जो नितान्त पाप है।"

इस पर थोडा विचार पीछे किया जा चुका है। अव्रती जीव को बचाने में पाप समझने वाले महानुभावो को सरल दिल से गभीरता पूर्वक विचारना चाहिए। यही आकर वे बडी से बडी भूल करते है। अव्रती को बचाने से अव्रत का पोषण जान यदि पाप मानेंगे तो अव्रती को मारने से अव्रत का नाश जान धर्म भी मानना

पडेगा। क्या अव्रती जीव को मारने में धर्म है ? अवसर आने पर मुनिराज तक अव्रती जीव के जीवन को बचाने का कार्य करते है या नही ? मुनि जगह पूंजते है—"जीव बचाने के लिए, मारने के लिए या तारने के लिए ?" यहाँ "मारने के लिए" कभी नही कह सकते तो "तारने के लिए" भी नही कह सकते। तब 'बचाने के लिए' कहने के सिवाय और हमारे पास बचता ही क्या है ? जब जीव बचाने में पाप है और मुनि को पाप करने का त्याग है तो फिर यह ओघा हिलाने की कौन-सी लाग है ? यदि यह कहे कि उनका ध्येय जीव बचाने का नही है। अपने द्वारा मारे जाने पर जो पाप उन्हें लगता उस 'पाप' से बचने के लिए वे ऐसा करते हैं। किन्तु कार्य तो जीव बचाने ही का हैं। ज्ञान द्वारा समझाने मात्र का ही यह प्रश्न नहीं रहा। यह क्रिया स्वय को पापो से बचाने के लिए हो, गुरु को पापो से बचाने के लिए हो, और चाहे चेले को पापों से बचाने के लिए हो, मुनिराज दोनो हाथो से जीवो को अलग फेंकते तो हैं ? उनकी 'भावना' को तो वे ही जानें या भगवान, पर उनकी यह 'क्रिया' हम सबकी आँखो के सामने है। उन जीवों के बचने पर पोषण तो अव्रत का ही हुआ और वह भी उन्ही के कर-कमलो मे।

फिर भी यह मान लें कि मुनिराज के हृदय के भाव मात्र 'पाप से बचने' ही के हैं उनका और कोई ध्येय नही पर इसे पूर्णतया पाप से बचना नही कहा जा सकता। हमें कोई धक्का देकर दूर फेके तो दुःख होगा या नही ? फिर सूक्ष्म जीवो का शरीर ही कितना सा ? उनके लिए तो साधारण धक्का—वज्र से भी कठोर है। ऐसे धक्के से उन्हे महान् दुःख और वेदना तो होती ही है, कई जीव तो इतने सुकोमल होते हैं कि ऐसे हल्के आघात को भी सहन न कर सकने के कारण मर ही जाते हैं। तब यह पाप से बचना हुआ या पाप का उदय हुआ ?

अपने को, गुरु को और चेले को पाप से बचाने के लिए यदि वे ओघा हिला कर जीवो को दूर फेंक सकते है तो अव्रती चींटियो का ध्यान छोडकर बालक को पाप से बचाने के लिए ही सही ओघा हिलाते या श्रावक को पूजनी हिलाकर ही उस कार्य को करने का उपदेश देते।

जगह पूजते समय मुनिराज के हृदय की क्या भावना होती है? केवल अपने को, अपने द्वारा जीव मारे जाने के पाप से बचाये रखने की या जीवो पर दया और करुणा की भी ? "वे प्रेम पूर्वक, दया पूर्ण भावना से जीवो को हटाते है, उन्हे

करुणा भरी नजर से देखते हैं, उनका जीवन बना रहे, उन्हे उनकी तरफ से दुःख न पहुँचे ऐसा चाहते हैं। दूसरे भी उन्हे दुःख न दे और न मारें, ऐसा प्रयत्न पूर्वक समझाते है; फिर भी धन्य है इनकी समझ! कहते हैं 'अव्रती जीव को बचाना पाप है"

विचारिये, मुनिराज के पैर के नीचे उछलता हुआ कोई जीव अचानक दब-कर घायल हो गया। मुनिराज उसकी सभाल करेंगे या नही? उसे सुरक्षित स्थान मे रखेंगे या नही? शिष्य के शरीर से यह घटना घटित हो गयी हो और उसे जीव का यत्न करना न आता हो तो वे उसको सहयोग देंगे या नही? उनका योगदान जीवो को बचाना नही है? जीवो के घायल होने पर सभाल करना, उन्हे सुरक्षित स्थान मे रखना, क्या है? यह तो ठीक वही बात होगी जैसे उपचार करने वाला डाक्टर यह कहे—'रोगी को बचाने का मेरा कोई उद्देश्य नही है, मै इसके जीवन की कामना कतई नही करता। मेरा भाव इसे न मरने देने का है।" 'न मरने देने' या 'बचाने' में क्या फरक है? इतना ही न कि मामा को मा का भाई मानेंगे, मामा नही।

'जीव को न मारना' एक बात है, जीव को प्रयत्न पूर्वक 'न मरने देना' दूसरी बात। अधिक समझने के लिए ध्यानस्थ मुनिराज का उदाहरण अपेक्षित है। शरीर पर चीटियाँ चढ आवें परवाह नही। घास उगे परवाह नही। चिडियाँ घोसले बना ले कोई चिन्ता नही। कोई उन्हे खा भी जाय तो डर नही। कोई जीवे या मरे उसकी भी उन्हें चिन्ता नही। तब कहा जा सकता है—"महा-पुरुष न मारते है, न बचाते है।" बचाने की प्रत्यक्ष प्रवृत्ति अपनाते हुए, बचाने का कार्य करते-हुए, 'अव्रती को बचाने मे पाप' बतलाना बडा ही लज्जाजनक है।

यदि कहें कि यह उनके शरीर से सम्बन्धित घटना है इसलिए ऐसे घायल अव्रती जीवो की कुछ काल के लिए उन्हे सभाल करनी पडती है और उसे मरने की स्थिति में पहुँचने से बचाना पडता है। अन्य मरने वाले जीवो को वे थोड़े ही बचाते हैं। भोजन मे या पानी में पडी मक्खी या अन्य जीव जैसे चिडिया, गिलहरी, बिच्छू आदि जब छटपट-छटपट करते है तब मुनिराज उन्हे बाहर निकाल कर क्यो बचाते है? अव्रती जीव है और अपने दोष से गिर कर मर

रहे है। मुनिराज का इसमे क्या दोष ? मरने के वाद भी मुनिराज उन्हे अलग रख सकते है। पर ऐसा तो मुनिराज नही होने देते। उन्हे शीघ्र निकाल कर वचाने की चेष्टा करते हैं। कहेगे —"आहार पानी तो उनसे सम्वन्धित पदार्थ है। उनके काम मे आने वाले पदार्थो या उपकरणो के योग से मरते जीवो को 'वचाने की नहीं', 'न मरने देने' की चेष्टा तो उन्हें रखनी ही पडती है। पर वचाया तो अव्रती जीव ही जा रहा है और वह भी पाप से वचने के लिए। पाप से वचने के लिए ही पाप का कार्य! और फिर मुनिराज द्वारा!!

मुनिराज के शरीर है, शिष्य है, आहार पानी है, अन्य उपकरण है और इन सव के योग से मरते अव्रती जीवो को वचाते है या यो कहें नही मरने देना चाहते हैं तो फिर श्रावक कौन-से निरजन निराकार हैं। वे भी शरीर धारी हैं, उनके भी वाल वच्चे हैं, घर द्वार हैं यानी मुनिराज से भी अनेक गुणा अधिक ही उपकरण हैं। फिर इन सव के योग से यदि जीव मरते हो तो धर्म के लिए न तो न सही, मुनिराज की तरह पाप से वचने के लिए ही सही, श्रावक के लिए भी उन मरते जीवो को वनती कोशिश वचाना यानी न मरने देना, जरूरी है या नही ?

मुनिराज अपने पात्रे मे जीवो को नही मरने देना चाहते (वचाते हैं) तो हम भी घर में जीवो को कैसे मरने दे, (क्यो नही वचाये)। भला पात्रा मुनिराज का है, पानी भी मुनिराज का है तो इस ससारमें कुछ तो हमारा भी होगा ? तव चीटियो को न मरने देना, यानी वचाना हमारे लिए आवश्यक है या नही ? धर्मपूर्ण है या नही ? फिर उनको वचाने, यानी न मरने देने के उद्देश्य से किया गया कार्य उचित क्यो नही कहा जायेगा ?

जहाँ तक सभव हो जीव के जीवन की रक्षा करके, उनको दुर्गति पूर्ण मरने से वचाने मे सहयोग रखना अर्थात् इस प्रकार के मरण से उत्पन्न होने वाले महान् पाप से उनको वचाना ही हमारा उद्देश्य है। पाप से वचना और वचाना समान लाभकारी है। इसीलिए हमें वच्चे के हाथ से पत्थर छीनना पडा।

स्वामी श्री भीखणजी के कई अनुयायी ऐसा प्रश्न कर सकते है— "जव ऐसा कार्य यानी पत्थर छीनना इतना महान् है, वडा धर्म है, अच्छे से अच्छा सहयोग है, मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है, तो क्या कोई मुनिराज आपकी तरह चीटियाँ वचाने की दृष्टि से वालक के हाथ से पत्थर छीन लेंगे ? अपने आचार्यो से पूछिये

कि ऐसा कार्य मुनि कर सकते है, करने पर उन्हें धर्म हो सकता है ? यदि मुनियों को ही ऐसे कार्य से पाप लगता हो तो श्रावको को अधिक लगेगा ही। हवा के जिस झोके से हाथी के हाथी उड जाँय, चीटी का वहाँ कोई पता लगेगा ?"

बडी विचित्र है यह समझ। माना जो आहार ताकतवर नही पचा सकता बच्चा कैसे पचा सकेगा, जो वजन सबल नही उठा सकता निर्बल कैसे उठायेगा ? जिस हवा को हाथी ही नही सहन कर सकते चीटी कैसे सहन करेगी ? जिस धार पर मुनिराज का टिका रहना कठिन हो, गृहस्थ कैसे डटा रहेगा ? किन्तु मकान की छत से एक हाथी को गिरा कर देखिये और एक चीटी को भी। पहाड की चोटी से भी गिर कर चीटी बच जाती है पर हाथी का क्या हाल होगा ? खेती करने से महाव्रत भग हो जाते है पर अणुव्रत भग नही होते। एक दाने अन्न से उपवास भग हो जाता है पर 'एकासना' पेट भर खाने से भी भग नही माना जाता। एक ही भूल के लिए आचार्य महाराज, मुनिराज से अधिक दड के भागी होते है। गरीब की पाई लखपति के सौ रुपयो से भी अधिक मूल्यवान मानी जाती है, यानी हमे अनेक अपेक्षाओ से विचार कर निर्णय करना पडता है।

इन भाइयो के मनो मे यह भावना घर कर गई है कि जो कार्य मुनिराज नही कर सकते वे श्रावक को भी नही करने चाहिए कारण जब उन्हे पाप होगा तो वे कैसे वचित रहेंगे। जिस कार्य से श्रावक को धर्म होगा उस कार्य से मुनिराज को भी धर्म ही होगा। पर सब जगह यह बात लागू नही हो सकती कारण मुनि-राज और श्रावक एक ही धरातल पर नही हैं।

अपने घर मे यदि हम अपने बर्तन मे से मुनिराज को दान दे तो हमे लाभ ही होगा। पास मे खडे हुए श्रावक भाई भी हमारे बर्तन मे से कुछ आहार मुनि-राज को दे तो उन्हे भी लाभ हीं होगा किन्तु पास मे स्थित दूसरे मुनि हमारे बर्तन से, अपने साथी मुनिराज को, आहार देकर दान का लाभ ले सकते है ? जो लाभ हमें मिला है, क्या वही लाभ उन्हें भी मिल सकता है ? हमारे ख्याल से शायद ऐसा नही हो सकता। तो उन्हे बतलाना चाहिए कि जिस ढग से जो कार्य श्रावक कर रहा है उसी ढग से वही कार्य मुनि क्यो नही कर सकते और करते है तो उन्हे वही लाभ क्यो नही मिलता ?

कोई आवेश मे कहे—"मुनि भी ऐसा दान उस समय कर सकते हैं और

हमारे जैसा लाभ ले सकते हैं।" या यो कहे—"तुम्हारे वर्तन मे से वस्तु लेकर मुनिराज दान न भी दे सकते हो पर अपने प्राप्त आहार में से तो दे ही सकते है और देते ही है। दान तो हो ही गया।"

माना, हमारी आज्ञा से हमारे वर्तन मे से आहार उठा कर भी दे दें और नही तो वे अपने वर्तन मे से तो दे ही सकते हैं। यह व्यवहार उनके आपस का है। पर यह उनका दान नही माना जा सकता। देकर भी वे हमारे जैसा लाभ नही उठा रहे है। यह तो उनके आपस की वैयावच्च है, आपस का सहयोग है। वस्तुत दान का दान हो ही कैसे सकता है ? फिर समान पद होने के कारण वे दान देने जैसी भावना उपार्जन कैसे कर सकते है ? हम तो यह भावना उपार्जन करते हैं—

"हे मुनि, आप धन्य है। आप महान् चरित्रवान हैं। वडी कृपा कर आप मेरे आगन में पधारे। आज मै धन्य हूँ जो मुझे ऐसी महान् आत्मा की कुछ सेवा करने का सुअवसर मिला। आज मेरे घर का कुछ द्रव्य सुपात्र-दान मे लगा। आज मेरा मनुष्य-भव कुछ तो सफल हुआ। क्या कभी मेरे को भी आप जैमा यह अवसर मिलेगा, ऐसा चारित्र उदय आयेगा ? महा दुष्कर रसनेन्द्रिय को जीतने वाले हे मुनि आप धन्य है।"

स्वय मुनि पद को सुशोभित करते हुए, अन्य मुनिराजो को आहार देते समय क्या वे भी ऐसी भावना उपार्जन कर सकते हैं ? आहार तो वे अपने से छोटे साधुओ को भी दे सकते हैं और अपने से वडो को भी। यह उनका सिर्फ आपस का सहयोग है। वडे, वूढे, तपस्वी या रोगी मुनिराजो को दे तो वह उनकी वैयावच्च (सेवा) है। अकारण यदि वे ऐसा आहार किसी मुनिराज को दे तो वे प्रमाद वृद्धि के दोषी भी हो सकते है। आवश्यकतानुसार देवें तो भी दान कदापि नही माना जा सकता।

मुनिराज को वन्दना कर और चरण छू कर हम खूव लाभ ले सकते है पर क्या आचार्यवर ऐसी वन्दना कर और चरण छू कर लाभ ले सकते है ? लाभ लेते हैं ? हमें लाभ होता है तो उन्हें लाभ क्यो नही होगा ? ऐसा लाभ वे उठाते तो नही ? क्या उन्हें लाभ नही चाहिए ?

मुनिराज, रोगी मुनिराज की खूव वैयावच्च करते है। हाथ, पैर दवाते

है, सिर दबाते है और वैयावच्च का खूब लाभ लेते है। यदि हम भी मुनिराज के हाथ पैर दबावे और ऐसी ही वैयावच्च करे तो हमे लाभ होगा या नही ? मुनिराज हमारी ऐसी वैयावच्च स्वीकार करेगे या नही ? जिस कार्य से मुनिराजो को लाभ हो रहा है हमे लाभ क्यो नही होगा ? वात यह है कि हमे तो उल्टा यहाँ पाप होगा यदि हम ऐसी वैयावच्च करे। मुनिराज को भी पाप होगा यदि वे हमारे से ऐसी वैयावच्च स्वीकार करे। इससे अधिक और क्या स्पष्ट किया जा सकता है।

मुनिराज की और हमारी कोई वरावरी नही। यह काटा हमें अपने दिमाग से निकाल कर फेंक देना चाहिए। वच्चे से पत्थर छीनने की जो वात पूछी जाती है इस सम्बन्ध मे हमारा उत्तर है–"प्राय मुनिराजो को हमने ऐसे अवसर पर पत्थर छीनते देखे है।" हमारे और उनके पत्थर छीनने मे अन्तर इतना ही है कि हम द्रव्य से छीनते है और वे भाव से। उनकी दृष्टि पडते ही वे कहते है–"वच्चे का उपयोग रखिये।" व्याख्यान मे वच्चे जब शोर करते है या रोते है तो मुनि-राज यही फरमाते है—"वच्चो का उपयोग रखिये।" खुले मुँह जब हम उनके सामने बोलते है तो वे फरमाते है–"जीवो की जयणा रक्खो" यानी वायुकाय के जीवो की विराधना न हो इसलिए "मुँह पर कपडा रखकर, वोलने का उपयोग रखने को हो" कहते है। यह उनकी भाषा समिति है। हमारा ध्यान आकर्षित कर मुँह पर कपडा उन्होने ही बंधवाया है। वे हमसे पुस्तके छपवाते है, चिट्ठियाँ लिखवाते है। ये सब क्या है ? एक नही, अनेक उपकार के कार्य हमसे मुनि करवाते है। तब वच्चे से पत्थर उन्होने ही छिनवाया है। पत्थर छीने जाने का श्रेय उन्ही को है। मान लीजिए, पास मे कोई नही मिला और उनके ध्यान में आ गया कि वच्चा भूल कर रहा है तो कोमलता पूर्वक, जयणा सहित उसके हाथ से पत्थर लेकर एक तरफ रख दे, तो रख भी सकते है। वे इधर-उधर कोई वस्तु रखते नही, ऐसी वात नही है। वडे-२ पात्रे, गठरियाँ आदि इधर-उधर रखते ही है। फिर यह कौन-सा नित्य का काम है ? वे ध्यान मे लीन हो, उनके ध्यान ही में न आवे या अन्य उपायो से कार्य कराया जा सकता हो तो वात अलग है। गुरु को कौन कष्ट देना चाहेगा।

धर्म-स्थानक मे यदि कोई वालक पत्थर से पात्रे फोडने लगे या साधु-साध्वियो

के सिर फोडने लगे तो मुनिराज उसे ऐसा करने देंगे ? मुनिराज उसे अलग नहीं हटायेंगे ? क्या अपने पात्रे या सिर फुडवा लेंगे ? उस समय यदि हम स्थानक में हो तो क्या उस वालक को ऐसा करने से नही रोकेंगे ? रोकने की चेष्टा की तो, वतलाइये रोकने में और पत्थर छीनने में अन्तर क्या है ? रोकने पर भी न रुका तो पत्थर छीनेंगे या नही ? छीनेंगे, तो पत्थर यहाँ भी हमारे हाथो में आयेगा। तो क्या यहाँ हमे पाप लगेगा ? ऐसा करना अनुचित होगा ? यदि नही तो चिंटियो ने किसी का क्या विगाडा है ? थोडा समय निकाल उनको वचाने से, हम जैसे अनेक प्रमाद सेवन करने वालो की कौन सी तन्मयता या सिद्धता में वाधा आती है ? उल्टे ऐसे कार्यो से तो हमारा प्रमाद कुछ हल्का ही होगा। मन मे कोमलता पैदा होगी। आत्मा में जीवो के प्रति दया उत्पन्न होगी और अनादि काल से जो जीवो को मारने की हमारी वुरी प्रवृत्ति है, वह हल्की ही पडेगी।

जिनके मन में जीव वचाने की भावना नही है या जो जीव वचे उसे अच्छा नही समझते, अव्रत का पोषण जान वुरा समझते है, वे जीव न मारने का उपदेश क्या खाक देंगे! वे तो उसके जीवन के मूल्य का मुख से उच्चारण ही नही कर सकते। उसका तो प्रसग ही नही ला सकते। उसके लिए कोई दलील ही नही दे सकते। काश! वे 'विषय पोषण,' और प्रति-पालन से 'शरीर पोषण' के अन्तर को न समझ सके तो न सही पर कम-से-कम, 'प्रति-पालन' और 'प्राण-रक्षा' के अन्तर को तो समझते। जीव के अपने-२ क्षेत्र की आवश्यकता को तो समझते। 'प्राण-रक्षा' मे घवडाने की क्या वात है। किसी की 'प्राण-रक्षा' करने से 'प्रति-पालन' की जिम्मेवारी थोडे ही आ जाती है ?

जीव न मारने का भाव किसी के उपदेश से, शीघ्र ही पनप आयेगा, यह सौदा इतना सस्ता नही है। जीव न मारने का भाव प्राणी में उपदेश से नही स्वयमेव तव उत्पन्न होता है जव उसका मन, जीवो के प्रति दया भाव से, उपकार भाव से छला-छल भर जाय। दया भाव की वृद्धि जीव में तव पैदा होती है जव वह पहले उसकी प्रतिपालना करता है और उसको मृत्यु से वचाता है यानी प्राण-रक्षा करता है। साथ ही उसके जीवन के मूल्य को यानी इस तरह की असगत मृत्यु से उत्पन्न होती हुई अनन्त वेदना को और उससे वधते महान् कर्मो को समझ लेता है। इस व्यवहार से उसके जी में जीवो के प्रति अनन्त दया और करुणा की भावना पैदा होती है और

तब वह चाहता है कि यह वेदना और हानि किसी प्राणी को न पहुँचे, सभी सुख पूर्वक जीवे। ऐसी स्थिति मे वह जीव नही मारेगा अर्थात् जीव न मारने की भावना उसमें उत्पन्न होगी। इसलिए जीव की 'प्राण-रक्षा' करना और उसका 'प्रति-पालन' करना प्रथम उसके लिए अनिवार्य हैं। फिर बचाने मे या प्रति-पालन मे पाप बतला कर, इस व्यवहार से उसे दूर हटाते हुए या उसमें अरुचि उत्पन्न करते हुए यह आशा रखना कि हम उसमें अहिंसा का भाव भर देंगे, दुराशा मात्र है, असम्भव है। ऐसे उपदेश से तो कमजोर प्राणी अधिक निर्दयी और हिंसक ही बनेगें। ऐसे उपदेश के प्रभाव से आज वह यह समझ बैठा है—

"मरता है तो मै क्या करू ? बचाने की जिम्मेवारी मेरी थोडी ही है। मैं क्यो ऐसे पाप करूँ ? मै थोडे ही मार रहा हूँ। जो कुछ हो रहा है उसका अपना भाग्य है। इसके लिए मै दोषी थोडे ही हूँ। मै अपना काम करू या इसको बचाता फिरू। मै किस-२ को बचाऊँ, इत्यादि-२।"

न बचाये जाने पर, मरने वाला प्राणी अपना अवसर तो खोता ही है, साथ-२ अधिक कषाय और असतोष उत्पन्न होने के कारण भारी कर्मी भी बन जाता है। पाप समझने के कारण—बचाने की स्थिति में होने पर भी—वह नही बचाता है। इस कारण उस न बचाने वाले पर अपने अतकाल मे उसे बडी झुझलाहट पैदा हो जाती है। वह सोचता है—

"अरे पापी! अरे निर्दयी! तेरा हृदय क्या पत्थर का हो गया है ? तेरे में इतनी भी दया नही। मै तेरे लिए ऐसे अनेक पाप सह लूगा, तेरा सारा ऋण चुका दूगा। कम से कम इस सकट मे तो मुझे बचा। मेरा तो अवसर ही जा रहा है। किस की सीख मे पड गया ? ऐसा विधर्मीपना क्यो अपना रहा है ? तब तो तेरा धर्म महान् निकृष्ट है। तेरे देव, गुरु सब झूठे हैं। क्षेत्र का सहयोगी होकर, सहयोग नही रखता ? भला इस सहयोग मे भी कोई पाप है ? तब तेरा पथ बडी गलत दिशा मे गया है। कल तेरे को भी किसी बचाने वाले की आवश्यकता पड सकती है। अरे, उस आवश्यकता को समझ कर ही मुझे बचा, मेरे प्राणो की रक्षा कर। क्या नही बचायेगा ? पाप ही समझता रहेगा ? मालूम पडता है—"पत्थर ही पत्थर" सुनते सुनते तेरा दिमाग ही पत्थर हो गया है।"

ऐसा निर्दयी होना कभी उचित नही। ससार की सम्पूर्ण प्रवृतियाँ अपनाते हुए जी जान से अपना वचाव करते हुए, और वचाव के लिए औरो से सहारा लेते हुए भी साथियो को वचाने में पाप वताना क्या उचित है? क्या यह ऋण चुकाने से जी चुराना नही है? क्या यह परिश्रम से वचना नही है? क्या यह घोर स्वार्थवृति नही है? कुटिल कपट नही है? पर क्या किया जाय, यह उस भोले जीव का दोप नही। यह दोप उन महान् उपदेशको का है जिन्होंने उस मे उल्टा भाव भर दिया है। इमी कारण स्वार्थ और निर्दयता की महा दुर्गन्ध उसके अन्त.करण में व्याप्त हो गई है। उसका हृदय भयानक कठोर वन गया है। वह अपनी आवश्यकता को ही भूल वैठा है। दूसरे को वचाना तो समय पर अपने आपके 'वचाव' का ही वचाव है।

यदि कहा जाय—"सव तरह से समर्थ, सर्वज्ञानी केवली भगवान, या सत मुनिराज भी ऐसा सहयोग अन्य जीवो के साथ नही अपनाते है। फिर उनको तो हम वुरा नही कहते? उनमे असतोप क्यो नही उत्पन्न होता? उल्टे वें तो दिन-२ ऊँचे ही जाते हैं। इस व्यवहार से हटे है तभी ऊँचे पहुँचे है, पहुँच रहे हैं। फिर कोई हमें भी ऐसे व्यवहार को न अपनाने का उपदेश दे, तो उसे वुरा क्यों मानें?"

मानते हैं केवली भगवान तो मरते, मारते, वचते, वचाते, सभी कुछ देखते है, सभी कुछ जानते हैं और इतना ही क्यो वे तो जीव के कर्मो के सभी खेलो को भी जानते हैं। फिर भी, 'परमात्मा का जीवो को न वचाने' का जो प्रश्न उठाते हैं उन्हें विचारना चाहिए कि मारे जाने वाले प्राणियो को वचाना उचित न समझ न वचाया तो कोई वात नही पर मारनेवाले प्राणियो को ज्ञान द्वारा समझाकर, हिंसा तो छुड़वाते। वह तो धर्म का ही कार्य होता। समझ रखने वाले हमारे सुयोग्य भाई कह सकते हैं कि परमात्मा ने ऐसे प्रत्येक हिंसक के पास पहुँचने की कोशिश की, समझाने गये? तव समझाने के जिस व्यवहार को वे अपनाये वैठे है वह भी नहीं टिकता। यदि यह कहे कि वे वहुतो को समझा गये है तो यह भी सही है कि उससे भी अनेक गुणा अधिक वे वचा भी गये हैं। एक को समझाना लाखो को वचाने के वरावर होता है।

इस विपय का थोडा विवेचन "मुनिराज द्रव्य-पूजा क्यो नही अपनाते" में

किया जा चुका है। मुनिराज अणुव्रत न अपनावें या सिद्ध भगवान मनुष्य-भव की इच्छा न करे तो भी अणुव्रत या मनुष्य-भव बुरा नही हो जाता। मुनि अपनी आत्म रमणता में लीन हो जाते हैं। अपने ज्ञान, ध्यान, और स्वाध्याय मे तल्लीन रहते है। ससार की सारी सुध-बुध ही भूल जाते हैं। यहाँ तक कि वे अपने शरीर को ही भूल जाते है। उनकी हमारी क्या बराबरी? उन्होने इस सहयोग को बुरा समझ कर छोडा है या आज भी बुरा समझ रहे है, ऐसी बात बिल्कुल नही है। वे तो आज भी प्राणी मात्र का हित चाहते है। सब के जीवन में शान्ति रहे, ऐसा चाहते है। ऊँचे पहुँचने के कारण या मर्यादा निभाने के लिए हमारे साथ ऐसा सहयोग नही कर रहे है तो क्या हुआ? इससे भी ऊँचे दर्जे का सहयोग रख कर उससे भी अनेक गुणा लाभ वे हमें पहुँचा रहे है। राजा अपने सिहासन पर स्थित रह कर हजारो सुभटो द्वारा जो हमारी रक्षा करते है वह उन्ही की कृपा मानी जाती है। इसी तरह उपदेश द्वारा अनेक प्राणियो में हमे 'न मारने' का और 'बचाने' का भाव भर कर सन्मार्ग मे प्रवृत करते हुए हमारे लिए हजारो हाथो को वे सहायक बनने मे समर्थ बना रहे है। उपदेश देकर कितना पथ प्रदर्शन कर रहे हैं, कितनी ठोकरो से बचा रहे हैं। भला फिर भी कोई दु ख और असतोष की बात है? इनसे भी ऊँचे, महान् ऊँचे और सबसे ऊँचे सिद्ध भगवान इनके जैसा उपदेश देने का सहयोग भी आज हमारे साथ नही रख रहे है। तो क्या मुनिराजो के उपदेश के सहयोग को हम इसलिए बुरा मान ले कि सिद्ध भगवान तो ऐसा व्यवहार नही अपनाते है? क्या 'उपदेश देना' किसी मुनि का बुरा माना जायेगा? उसी तरह हमारा आपस का सहयोग भी बुरा नही माना जा सकता चाहे मुनि उसे न भी अपनावें।

उनके पहले के जीवन को ही देखे। इस व्यवहार का कितना जबरदस्त अनुकरण उन्होने किया था। वे इसे छोडकर नही, अपितु अपना कर ही ऊँचे पहुँचे हैं।

गौतम स्वामी के व्यवहार को ही लीजिए जब तक परमत्मा में अनुराग बना रहा केवल ज्ञान प्राप्त नही कर सके। पर इसका मतलब यह नही कि गुरु से अनुराग रखना बुरा है, और इसलिए हमें गुरु की वन्दना, भक्ति छोड देनी चाहिए। गुरु की भक्ति छोड, क्या यह माने कि मोह जितना हल्का हुआ उतना ही अच्छा है?

यदि ऐसा निर्णय हम ससार के सामने रखेंगे तो साधारण जन, और कुछ छोड़ें अथवा न छोड़ें, बुरे का बहाना बनाते हुए इसे तो अवश्य छोड बैठेंगे। जैसे पूजा, दया, दान आदि को बुरा बताने की देर थी कि अनेक भाई उन्हे तबियत से छोड बैठे।

(हालांकि अन्य बुराइयो को लाख समझाने पर भी आज तक उन्होने नही छोड़ा)। स्वतन्त्रता की सास ली। मन में प्रसन्न हुए, सोचा–"चलो काया-कष्ट और खर्च की आफत से बचे।" धर्म-कार्य मे तो यो ही रुचि कम होती है फिर ऐसा सहारा मिल जाय तो कहना ही क्या ?

यहाँ, बुराई और कमजोरी में जो अन्तर है, उसे समझ हमें निर्णय करना चाहिए। यह तो गुरु का मोह ही था जिसने गौतम स्वामी को केवलज्ञान के दरवाजे तक पहुँचाया। मोटर घर के दरवाजे पर लाकर छोड दे, फिर घर के भीतर पहुँचने के लिए मोटर छोडे या नही ? मोक्ष पहुँचने के लिए शरीर और साधुवेश छोडे या नही ?

'केवल–ज्ञान' की अपेक्षा से 'गुरु का मोह' भले निम्नतर हो पर गुरु के मोह की करामात देखिए–"ऊँचा ही ऊँचा ले जाता हुआ, लक्ष्य प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक साथ देता है और कभी नीचे नही गिरने देता। लक्ष्य को जब चाहें प्राप्त कर लें।" जिसके सहारे के बिना लक्ष्य तक पहुँचना तो दूर रहा, लक्ष्य को समझना ही असम्भव है। भला, उसे हम बुरा समझें, बुरा कहें।

राग और द्वेष को बुरा कहना सरल है पर हमारा मार्ग सरल कैसे बनेगा, उन्हें छोडने में हम सफल कैसे होगे यह समझना अति कठिन है। दोनो को एक साथ छोडना साधारण जीवो के लिए न कभी सभव हुआ है और न हो सकता है। पहले हमें द्वेष कम करना होगा। इसके लिए हमे राग को और भी जोरो से अपनाना पड़ेगा। इस तरह जब हम द्वेष को कम करने मे सफल हो जायेंगे तब हम धीरे-२ राग को भी कम कर सकेंगे। हमारी अपनी स्थिति को देखते हुए यदि इस प्रकार के राग को बुरा समझ कर नही अपनायेंगे तो हमारे में रहे राग को कम करना या छोडना तो दूर रहा, हम द्वेष को भी कम नही कर सकेंगे।

ऐसे मोक्ष मार्ग के जाननहार महान् तेजस्वी रत्न, स्वामी श्री भीखणजी ने मूर्ति-पूजा में ही पत्थर नही बतलाया चीटियो को बचाने मे भी पत्थर बतलाकर अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है।

वस्तुतः श्री भीखणजी स्वामी के अन्न और जल जैसे जीवनोपयोगी पदार्थों के उपयोग को हिंसा-पूर्ण समझ लेने ही के कारण सारा मामला किर-किरा हो गया। उसी कारण वे शुरु से अंत तक चूकते ही गये। कुछ उदाहरण और ले।

छद्मस्थ चूके

'प्राणी के प्राण वचाने में' और 'प्राणी की प्रतिपालना में' क्या अंतर है कितना अतर है, इसको विना सोचे समझे ही स्वामी श्री भीखणजी ने 'प्राणी के प्राण वचाने मे एकान्त पाप है' इसकी सत्यता कायम रखने के लिए "तीर्थंकर भगवान चूक गये", एक जगह यहाँ तक कह डाला।

सफाई मे आचार्य श्री भीखणजी का यह फरमाना कि तीन ज्ञान सहित जन्म लेने वाले तीर्थंकर भगवान तो खेलते-कूदते भी है, विवाह भी करते हैं, विषय-भोग भी भोगते है, राजगद्दी पर भी बैठते हैं और मौका उपस्थित हो जाय तो संम्भवत. युद्ध भी कर लेते हैं परन्तु उनके ऐसे व्यवहारो को धर्म-पूर्ण थोडे ही माने जा सकते है? तीन ज्ञान के धणी तीर्थंकरों के अपनाने के कारण उनका समर्थन थोडे ही किया जा सकता है? इसलिए सभी स्वीकार करेंगे कि यहाँ तो परमात्मा प्रत्यक्ष चूके है। इसी प्रकार जव तक परमात्मा केवल ज्ञान प्राप्त नही कर लेते सयमी यानी छद्मावस्था मे भी चूक सकते है।

आचार्य श्री का ऐसा समझना या समझाना हमें यथोचित नही लगता। पहले हम गृहस्थावस्था के सम्बन्ध में ही सोचें—भोले जीवो को अध्यात्मवाद की तरफ आकर्षित करने और उसमें रुचि उत्पन्न करने के लिए, हम गृहस्थावस्था की कठिनाइयो का, मोहजाल के फदे का चाहे जितना दिग्दर्शन करावे; उसकी कमियो को सामने लाकर, उसमें अरुचि उत्पन्न कराने की चाहे जितनी चेष्टा करे, तुलना में चाहे जितनी नीची श्रेणी की वतलावे, अध्यात्मवाद के शुद्ध स्वरूप को चाहे जितना बखाने; महाव्रत की महानता को चाहे जितना समझावें; परम सुख की विशेषता को चाहे जितनी उच्च कहें कोई आपत्ति नही, पर गृहस्थावस्था मे कुछ है ही नही, वह व्यर्थ है, एकान्त निकम्मी है, सम्पूर्ण पाप-पूर्ण है, उससे कुछ प्राप्त हो ही नही सकता, इत्यादि ऐसा कभी नही कह सकते। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शुक्लध्यान की तुलना में हम धर्म-ध्यान को निकम्मा नही कह सकते।

उसका भी अपना एक क्षेत्र है, अपनी मर्यादाये है और अपनी उपयोगिता है। यानी गृहस्थावस्था में भी अपनी उपज है, ऊसर नही है, ऐसा मानना ही पडेगा।

इसी प्रकार सयमी क्षेत्र की भी अपनी मर्यादायें हैं, अपना महत्त्व है और अपनी उपयोगिता है भले मोक्ष क्षेत्र मे वह कितना ही गौण क्यो न हो। यहाँ भी मुनिराज आहार लाते हैं, निद्रा लेते हैं और शौचादि से निवृत्त होते हैं। तो क्या कह दे कि वे बुरे है, दोषी हैं, अत्यमस्त है या छद्मस्थ चूकते है। यदि नही, तो क्या उनके मल-त्याग को 'त्याग' मानेगे? धर्म मानेंगे? पुण्य मानेगे? पाप मानेंगे? आखिर कुछ तो मानेंगे। घबराइये मत, धर्म मानने पर भी हम मुनिराजो को जुलाब लेने की राय नही देंगे। अस्तु। कोई कुछ मानें या न माने, अथवा इस चर्चा को ही बुरी मानें पर हमें तो इसे मुनिराज के अपने ज्ञान-पने मे अपनाने के कारण शुद्ध सयमी जीवन की क्रिया का एक अग मानना ही पडेगा, यह सब जानते हुए भी कि यह तो हिंसापूर्ण, अशुचिपूर्ण और परिग्रह-पूर्ण क्रिया ही है। कारण स्वाध्याय को छोड कर सवेरे-सवेरे मुनिराज को, पानी लेने और बाहर (मलत्याग) के लिए, जाना ही पडता है और यह कोई उनके ऊपर थोपी जाने वाली क्रिया भी नही है। लाते हैं, खाते हैं, चबाते हैं और पचाते हैं तब जाते हैं। सम्भवत स्वामीजी भी मुनिराज के ऐसे व्यवहार को देखते हुए भी इसे अथवा मुनिराज के सयमी जीवन को बुरा नही कह सकते या मुनिराज को चूका नही बतला सकते। ठीक इसी प्रकार गृहस्थावस्था के भगवान के व्यवहारो को भी हम उसी के पैमाने से मापने के अधिकारी है न कि ऊँचे क्षेत्र के व्यवहारो के पैमानो से। क्या स्वामीजी कह सकते थे कि भगवान ने जो गृहस्थावस्था मे व्यवहार अपनाये वे अनैतिक, अविवेकी, अमर्यादित या किसी व्रत भग के दोष से परिपूर्ण थे? क्या तीर्थंकर भगवान ने कोई व्रत लेकर व्रत तोडा? क्या उनके कर्म भारी पडे? खेती करने से साधु का साधपना भग हो जाता है पर श्रावक का श्रावकपना भग नही होता। फिर भी स्वामीजी का निर्णय क्या होता और थोडी देर के लिए मान लें कि कुछ ऐसी ही बात थी तो फिर शास्त्रकारो ने परमात्मा के पाँच कल्याणक क्यो माने? केवलज्ञान और मोक्ष के दो कल्याणक ही मानते। देवता भी परमात्मा के सम्मान में पाँच बार क्यो आये? एक जैसा सम्मान क्यो किया? विवाह इत्यादि के मौके पर छठी बार क्यो नही आये? स्वामीजी ने भी पाँच कल्याणक क्यो माने?

शास्त्रकार और देवता तो केवलज्ञान न होने के कारण चूक भी सकते है पर स्वामीजी तो भूल न करते। भगवान को 'भगवान' तभी कहेगे जब वे केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेगे। फिर भगवान के 'पाँच कल्याणक', यह कैसे ?

परमात्मा के किसी भी कार्य मे हमे जरा भी शका या बराबरी नही करनी चाहिए। वे तो हर क्षण अपने कर्मो को हल्के करने वाले महान् पुरुष ही होते है। उनके भोग-भोगने पर भी उनके शेष रहे भोगावली कर्म ही क्षीण होते है। फिर भी यदि अपने कर्म दोष से हमे, उनके जीवन मे कोई विपरीतता जान पडे या उनका कोई कार्य अच्छा न लगे तव भी हम अपनी समझ ही की कमी या भूल समझें। भला हमने केवलज्ञान थोडे ही प्राप्त कर लिया है। बडे-२ ज्ञानियो ने भी महा-पुरुषो के जीवन की विशेष-२ घटनाओ को 'अछेरा--भूत' कह कर ही सतोप कर लिया है पर उसमे शका करके, 'भूल हुई है', ऐसा कभी नही कहा है।

जिनको भूल निकालने की आदत है वे तो छद्मस्थ भगवान की ही नही किसी भी प्रकार से केवली भगवान की भी भूल निकाल कर ही छोडेगे। यह कहकर ही कि समर्थवान होते हुए भी वे इतने वर्षो तक इस ससार में बैठे रहे, मोक्ष नही पधारे, बडी भूल की। इतनी देसना देते रहे, मौन-व्रत नही रक्खा भारी चूके। सच्चा-त्याग न अपनाकर, समवसरण जैसी विलासिता स्वीकार करते रहे, वेहद चूके; आदि।

इसी तरह स्वामीजी की भी ऐसी निरर्थक दलीलो से उनके मनतव्य की कभी पुष्टि नही हो सकती।

तीन ज्ञान सहित जन्म लेनेवाले, दीक्षा के साथ चौथा ज्ञान भी प्राप्त कर लेने वाले तथा ज.दी ही महान् केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पधारने वाले ऐसे महान् तीर्थंकर भगवान ने अपनी पूर्ण चार ज्ञान सहित छद्मावस्था मे भूल की ऐसी अकारण, अनहोनी वात कह कर स्वामीजी ने जो भूल की है उसको लेखनी से व्यक्त करने के लिए हमारे पास कोई शब्द नही है। अच्छे से अच्छा विद्वान् शिष्य भी अपने भोले-भाले गुरु के लिए भी 'भूले', 'चूके' अपने मुख से ऐसा कहना शायद उचित नही समझेगा। क्या स्वामी श्री भीखणजी के लिए, किसी शिष्य का यह कहना कि हमारे आचार्य श्री यहाँ चूक गये उचित हो सकता है ? क्या उसका ऐसा कहना लाभकारी या शोभायमान हो सकता है ? क्या ऐसा कहना हमारे

दिलो में गुरु के प्रति अश्रद्धा, असतोप या बहुमान मे कमी आने का कारण नही बनेगा ? सत्य भी हो तो भी यह व्यवहार के प्रतिकूल है। गुरु की भूल भी हो जाय तो भी शिष्य के लिए यो फटे मुँह बोलना उचित नही कहा जा सकता। ऐसा कहना उसके दभ और विनय-हीनता ही का लक्षण होगा। तीर्थंकर जैसे महापुरुषो के लिए ऐसे अनहोने, अनुचित वचन बोलने वालो की तो बलिहारी ही है।

चूके सिद्ध करने के लिए उनके पास यही तो उत्तर है—"केवली भगवान ने ही आगे चल कर ऐसे व्यवहार को पाप-पूर्ण कहा है। धर्म होता तो आगे चल कर आने दो शिष्यो को ही उन्होने क्यो नही बचाया होता ? हम अपनी तरफ से थोडे ही कुछ कह रहे है। हम तो उनकी प्ररूपणा के आशय पर ही निर्णय करते है।" पर हमे समझना है कि भगवान के आशय को समझने और समझाने वाले आप है कौन ? पाँचो ज्ञान में से, बिना एक भी ज्ञान के धणी। जन्म से मृत्यु पर्यन्त पूर्ण एक भी ज्ञान को प्राप्त न कर सकने वाले शून्य के स्वामी! महापुरुषो के कथन का आशय समझना भी मामूली बात थोडे ही है। क्या यही आशय समझ पाये। पहले किसी आशय समझने वाले ने जन्म ही नही लिया। यदि इनके हिसाब से भगवान ही चूक सकते है, तो कही ये भी आशय समझने मे चूक रहे हो तो क्या बडी बात है ? इनके आशय समझने में भी तो चूक हो सकती है। यह कार्य ठीक वैसे ही हुआ है जैसे एक अर्ध पागल व्यक्ति बिना आगा-पीछा विचारे, किसी की भी भूल निकालने में ही अपनी शान समझता हो। वह यही समझ कर इतराता है—"मै किसी को माफ नही कर सकता, मेरे सामने कौन होता है यह ?"

साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी भूल होने पर अपनी भूल स्वीकार करता है तो क्या तीर्थंकर भगवान जैसे परम पुरुष अपनी भूल स्वीकार नही करते ? पीछे तो उसके लिए दड लेते, आलोयणा करते। मुनिराज से भी भूल होने पर आज वे दड लेते है। आचार्य श्री भीखणजी के हिसाब से परमात्मा भूल कर गये। शायद आवेश में कर गये होगे, आवेश आ गया होगा। पर बाद मे तो उनका आवेश उतरा होगा या समझ आई होगी, भूल समझी होगी। उसके लिये उन्होने दड लिया था, क्या ?

यह भी मान ले कि भगवान ने उस भूल को समझ ली थी और फिर उसके लिए दड भी ले लिया था, तो पूर्व शास्त्रकारो ने, जिनकी कृपा से आज हम शास्त्रो के अर्थ समझने में समर्थ हुए हैं, उसका स्पष्टीकरण क्यो नही किया। इतनी बडी घटना के लिए कुछ तो उन्हें भी अपनी तरफ से लिखना चाहिए था, अपनी राय ही देते। क्या वे भी आशय समझ नही पाये ?

स्वामीजी श्री आगे-पीछे का आशय समझाते हैं, फर्क समझाते हैं और विपरीतता सिद्ध करते हैं पर भगवान की अन्य आज्ञाओ को भी तो मिलाते। क्या उनमे विपरीतता नही है ?

मुनिराजो को अपनी-२ शक्ति के अनुसार व्यवहार अपना कर, कार्य करने की भिन्न-२ प्रकार की आज्ञाये तो है ही, एक ही मुनिराज को देश, काल, भाव समझकर, भिन्न प्रकार से व्यवहार अपना कर अनेक प्रकार की भिन्न-२ आज्ञाये भी तो है और कई-२ आज्ञायें तो एक दम एक दूसरी के विपरीत है। जैसे मुनिराज को चौमासे मे एक ही जगह चार महीने तक रहने की आज्ञा है पर उसी मुनिराज को मौका उपस्थित होने पर चौमासे मे भी विहार कर जाने की आज्ञा है। वर्षा मे मुनिराज को बाहर न जाने की आज्ञा है पर उसी मुनिराज को अन्य कारण से बाहर जाने की भी आज्ञा है। ये सब विपरीत क्रियाए हैं या नही ? मुनिराज दोनो ही प्रकार की आज्ञाओ को, समय समय पर आवश्यकतानुसार अपनाते है या नही ? एक तरफ–जीव हनने वाले को, परमात्मा मुनि ही नही मानते, दूसरी तरफ—वे स्वय साध्वीजी की प्राण रक्षा के लिये नदी उतरने, औषधि आदि लेने की आज्ञा फरमाते हैं। तो क्या ऐसी विपरीतता को देखकर कह दें कि मुनिराज चूकते हैं या केवली भगवान आज्ञा देने में चूक गये। जब विपरीत क्रियाओ को अपनाते हुए भी मुनिराज चूके नही कहे जा सकते तो तीर्थंकर भगवान को भी हम चूका क्यो कहें ? वहाँ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे फरक आ गया होगा। तीर्थंकर भगवान ने कारण समझ कर ही कार्य किया होगा। जो कुछ किया, उन्होने ठीक ही किया। इसमें अश मात्र भी सन्देह नही। उनसे भूल कभी नही हो सकती, यह नितान्त सत्य है।

आचार्य श्री भिक्षु स्वामी को यदि अपनी यह मान्यता ही बचानी थी कि 'जीव बचाने में पाप है' तो वे भगवान को बिना 'चूके' बतलाये ही बडे आराम

और आसानी से बचा सकते थे। दुनिया यही तो कहती—'भगवान ने भी प्राणी के प्राण बचाये', धर्म था तभी बचाये इसलिए प्राणी के प्राण बचाने में धर्म है।" यहाँ साफ-२ कह देते कि भगवान ने किसी प्राणी के प्राण बचाये,तो क्या, न बचाये, तो क्या ? लब्धी फोडी तो क्या ? उनकी और हमारी बराबरी कैसी ? क्या उनकी शक्ति के बराबर हमारी शक्ति है ? उन शक्तिशाली पुरुषो के व्यवहारो का अनुकरण करना हमारे जैसे कमजोरो के लिए लागू नहीं होता। यदि ऐसा होता तो छोटे और बडे सर्व मुनिराज के लिए एक जैसी ही आज्ञाये होती। बात तो यहाँ तक है कि शिष्य, गुरु की भी बराबरी नहीं कर सकता। वे महापुरुष थे, अपने लिए जैसा उचित समझा, उन्होंने किया। हमे तो उनकी आज्ञा का पालन करना है। उनकी आज्ञा ही हमारे लिए सिद्धान्त रूप है।

इस तरह स्वामीजी बिना परमात्मा को चूका कहे ही अपनी मान्यता को बाल-२ बचा सकते थे पर उन्हे मतलब था समाज पर अपनी समझ का प्रभाव जमाने का। पर ऐसा प्रभाव जमा कि अपने महापुरुषो की भूल बतला कर, अपने हाथो अपने लिए ही घाटा मोल लिया।

जिन तीर्थंकर भगवान को गुरु की भी आवश्यकता नही होती। जिनको बिना गुरु के ही दीक्षा लेने का अधिकार है ऐसे तीर्थंकर भगवान को, हम ही भूल करने वाले घोषित कर दें, चूके बतला दे तब तो समझ लीजिए हमने सारी लुटिया ही डुबो दी। एक जगह भूल करने वाले से किसी भी जगह भूल हो जाने की सम्भावना रह सकती है। फिर उन्हें किसी पूर्ण जिम्मेवारी का कार्य कैसे सोपा जा सकता है ? स्वामीजी श्री को समझाना चाहिए था कि बिना गुरु के ही, ऐसे चूकने वाले छद्मस्थो को दीक्षा लेने जैसी अत्यन्त महत्व-पूर्ण पद्धति को स्वय सचालन करने का अधिकार क्यो सोपा गया ?

स्वामीजी का इसमे क्या स्वार्थ सधा ? सिर्फ इतना ही कि उनके मानने वालो ने यह कह कर उनकी खूब प्रशसा की कि "हमारे स्वामीजी ऐसे वैसे नही हैं, खूब खरे हैं। किसी की रेख नही रखते, चाहे भगवान स्वय ही क्यो न हो।" कमाल ! तब स्वामीजी तो 'कर्मो के काँटे' ही सिद्ध हुए। कर्मो ने किसी को

छोड़ा हो तो स्वामीजी किसी को छोडते ? गुरु को पछाडा, परमात्मा को पछाडा, हम पाखण्डी, मूर्ख किस गिनती मे है ?*

पानी पिलाना पाप है

भगवान की भूल पकडने वाले स्वामी श्री भीखणजी ने, आपस के अन्न पानी के सहयोग रखने को पाप पूर्ण सिद्ध करने के लिए तुलना मे माता के साथ वेश्या को बैठाकर समाज को अच्छा उल्लू बनाया।**

---

*भिक्खु-दृष्टान्त १७८, पृष्ठ ७९

छै लेश्या हुंती जद वीर में, हुंता आठुंइ कर्म।
छद्मस्थ चूका तिण समें, मूरख थापै धर्म ॥

**भिक्खु-दृष्टान्त २९, पृष्ठ १४

"खेरवा में स्वामीजी कनें ओटो-स्याल उंधो-अँवलो बोल्यो : थे श्रावक ने दियांइ पाप कहो नैं वेश्या ने दियांई पाप कहो छो: इण लेखै श्रावक अनें वेश्या सरीखा गिण्या। जद स्वामीजी बोल्या : ओटाजी लोटी भरनें काचो पाणी थांरी मांनैं पायां कांई हुवै ? जद ते बोल्यो: पाप हुवै। जद स्वामीजी फेर बोल्या : एक लोटो पाणी वेश्या नैं पायां कांई हुवै ? जद बोल्यो: इण मैंइ पाप हुवै। जद स्वामीजी बोल्या: थांरै लेखै थांरी मां ने वेश्या सरीखी गिणी कांई ?..."

उपरोक्त पाठ से स्पष्ट है कि पानी पिलाने में हमारी अरुचि उत्पन्न करने के लिए– 'मां और वेश्या' का प्रसंग सबके सामने लाना है इन्हें, पर कपट से इस की शुरुआत करा रहे हैं एक दूसरे व्यक्ति के मुख से। यही प्रश्न करने वाले हैं और ये ही उत्तर देने वाले जैसा चाहें लिखें। कौन हाथ पकड़ने वाला है? यानी नहीं तो जिस ओटाजी ने 'माता' तो क्या; श्रावक और वेश्या की तुलना को भी समान नहीं माना, उसे भी पसन्द नहीं किया उसीने "माता को पानी पिलाने में भी पाप, और वेश्या को भी पानी पिलाने में पाप", ऐसा झट मान लिया नितान्त असत्य जान पड़ता है। इसमें लेखक की ही कुटिलता झलकती है। यह उसी ने दुनिया की आँखों में धूल झोकने के लिए प्रथम कुछ बनावटी विरोध दिखाकर बाद में अनुकूल प्रश्नोत्तरी से अपनी मान्यता की पुष्टि की चाल चली है।

अरे ! कच्चे पानी के ही व्यवहार को हिंसापूर्ण सिद्ध करना था तो माता और वेश्या के प्रसग को लाने की क्या आवश्यकता थी ? और भी अनेक उदाहरण दे सकते थे। पर परमात्मा की प्रतिमा के सम्बन्ध मे, गोबर के प्रसग के समान, यहाँ स्वामी श्री भीखणजी को वेश्या का प्रसग लाना ही अच्छा लगा क्यो कि यहाँ उन्हे सारे ससार से दो-२ हाथ करने थे। मूर्ति-पूजा को हिंसा-पूर्ण सिद्ध करने मे उन्हें केवल मूर्ति-पूजको का ही सामना करना था; वहाँ उन्हे अपने गुरुओ का भी पूरा-२ सहयोग था इसलिए उन्हे अपना काम सिर्फ गोबर के सहारे ही से बन जाता लगा पर यहाँ उन्हें मूर्ति-पूजको और अपने गुरुओ (जो उनकी नजर मे अब गुरु-घटाल से कम नहीं) से ही नही, सारे ससार के लोगो से लोहा लेना था। इसलिए ससार की महान्तम शक्ति वेश्या के सिवाय इस नश्वर ससार मे वे और किसका सहारा तकते और कौन पार लगाता। इसलिए बहुत सोच-समझकर उन्होने यहाँ उसी का पल्ला पकड़ लेना उचित समझा।

वेश्या के अनाचार सेवन के कारण उससे हमें सहज घृणा है ही और उसके पोषण को अनाचार का पोषण (वृद्धि) जान पाप पूर्ण समझते ही हैं इसलिए स्वामीजी श्री को, पानी पिलाने मे हमारी अरुचि उत्पन्न कराने के लिए यही प्रयत्न अच्छा लगा। उनका कहना था, उनका उपदेश था कि हम वेश्याओ को भी पानी पिला कर पाप न किया करें और ससार को भी पानी पिला कर पाप न किया करे। किसी के लिए हिंसा पूर्ण कार्य करना हमारे लिए उचित नही। अन्यथा पाठकवृन्द ही सोचें इस प्रसग को लाने का और उद्देश्य ही क्या हो सकता था ? चाहे उन्ही की समाज के एक भी व्यक्ति ने आज तक उनके इस सद-उपदेश को न माना हो, न धारण किया हो, न व्यवहार में लाया हो, माता या अन्य

कुछ भी हो माता को पानी पिलाने में इन्होने पाप समझा है और वेश्या का प्रसंग लाकर उस पाप वृद्धि को रोकना चाहा है। इनके भी घर में मातायें होने के कारण संकोच से समाज के सामने प्रकट रूप में अपनी तरफ से न कह कर परदे की ओट में शिकार खेला है। 'माता और वेश्या की तुलना' इन्हें समाज के सामने रखनी थी जिसे इन्होने रखा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

स्वजनो की भक्ति की अवहेलना न की हो, यह तो समाज का भाग्य है लेकिन उनकी तरफ से समाज को उजाडने में कोई कमी नही रही। शायद दुनिया के इतिहास मे समझ और उपदेश का यह एक बेजोड नमूना है।

कारणवश, माता से अलग हटने से उनकी संभाल न की जा सके तो यह एक बिल्कुल भिन्न बात है पर, उनके साथ रहते उनकी इस सभाल को पाप पूर्ण समझना या समझकर अपनाना वडा ही अहितकर है। असल में हमारे लिए तो ऐसा सोचना ही महा-पापपूर्ण है। जहाँ भगवान महावीर स्वामी ने पेट मे भी माता के दु.ख-सुख का ख्याल रखखा, वहाँ हमारे भिक्षु स्वामी ने माता को एक लोटा पानी पिलाने मे भी हम गृहस्थियो को पापी वतलाया।

'वच्चे के पालन-पोषण' के सम्वन्ध में हम पीछे विवेचन कर चुके है, और देख चुके है कि इस अवलम्वन के विना हमें कोई लाभ नही मिल सकता। यहाँ कोई विचारे—"माता की प्रतिपालना क्या मै करूगा, तभी होगी ? यदि मैं मर गया ? यदि मैं साधु हो गया तो माता की प्रतिपालना कैसे होगी ? कौन करेगा ? होगी या नही होगी ? यदि हो सकती है तो फिर यह मोह, मै क्यो करूं ? क्यों वृथा पाप में पड़ू ? क्यो न स्वामीजी के उपदेशानुसार कच्चे पानीके-(पक्के पानी का प्रश्न यहाँ नही है, कारण वह तो मुनिराज भी काम में लेते हैं और वह हर प्राणी को विना हिंसा के ही प्राप्त हो जाता है। पक्के पानी में कच्चे पानी की आवश्यकता नही रहती ! अव हम आचार्य श्री के सुश्रावकों से पूछते हैं—"एक लोटो पाको पाणी मा ने पाया काई हुवे ? एक लोटो पाको पाणी वेश्या ने पायां काई हुवे ? एक लोटो पाको पाणी मुनिराज ने वहराया काई हुवे ? एक लोटो काचे-पाणी मे और एक लोटो पाके-पाणी में कितोक फरक हुवे ?)—पाप से वचू।"

इस सम्वन्ध मे विचार काफी हो चुका है। विना आपस के सहयोग के हम कभी कार्य मे सफल नही हो सकते। सहयोग भी अपने-२ क्षेत्र और शक्ति के अनुसार हमें रखना ही होगा। हम मर जाते या साधु हो जाते तो माता की संभाल कैसे होती—ऐसा समझ माता की सभाल से विरक्त हो जाना अत्यन्त वुरा है। जिस कार्य-क्षेत्र मे आप नही है, वहाँ आपकी कोई जिम्मेवारी न होने से, कार्य न करने पर भी आपस में कोई असंतोप नही होता

पर कार्य क्षेत्र मे रहकर उसका समुचित कार्य न करे, तो आप सोलह आने गुनहगार हैं। साधु होकर साधुओ से सहयोग न रखें तो गुनहगार हैं। श्रावक होकर श्रावक का सहयोग न करें तो अपराधी है। इसी तरह माता के साथ रहकर माता से सहयोग न रक्खें तो गुनहगार है। पाप समझेगें तो जी मे खटका बैठ जायेगा। कर्त्तव्य से च्युत हो जायेंगे। आपका भी आगे बढना बद हो जायेगा।

श्रावक हो चाहे मुनिराज खाने-पीने से सभी के हाड, मास, मल, मूत्र, इत्यादि ही बनते है पर मुनिराज के शरीर से महाव्रतो का पोषण होने के कारण महान् उत्तम माना जाता है। इसी तरह अव्रती का खाया-पिया अवगुण वृद्धि जान बुरा माना जाता है। फिर व्रता-व्रती यानी श्रावक के खाये-पिये को मुनिराज जितना श्रेष्ठ न भी माने तो भी अव्रती जितना बुरा और व्यर्थ भी कैसे मान सकते है? श्रावक के खाने-पीने से महाव्रतो का नही तो अणुव्रतो का पोषण तो प्रत्यक्ष ही है।

आज जो बढ-२ कर दया और अहिंसा की बाते कर रहे है, भगवान की वाणी का लाभ ले रहे है, मनुष्य-भव को सफल बना रहे है वह सब कुछ माता के अपनाये सहयोग की नींव पर है या नही? माता ने आपके लिए कितनी हिंसा मोल ली? तब जाकर यह लाभ आपको मिल रहा है? आज भी वह कितनी हिंसा मोल ले रही है? जब इस क्षेत्र मे है तो बराबर का सहयोग रखना क्या उचित नही है?

पूज्या माताजी के जिस सहयोग की कृपा से आज हम धर्म का लाभ लेने में समर्थ हुए है, जो पूज्या माता आज भी साधु-सन्तो का दर्शन करके एव उन्हे दानादिक देकर जीवन का वास्तविक लाभ उठा रही है, जिस माता का पोषण प्रत्यक्ष अणुव्रतो का पोषण है। लानत है हमारे ऐसे जीवन पर जो हम उस क्षेत्र में रह कर भी, उसकी प्रतिपालना में पाप समझते हुए उसके जीवन को समेटने का कारण बनें और भविष्य मे धर्म के लाभ मे उसे सहयोग न दे। कोई तपाक से कह सकता है—"माता को धर्म का सहयोग देने का कौन निषेध करता है? चाहे जितना दीजिए।" पर जब उसको पानी ही नही पिलायेंगे तो क्या उसकी लाश को धर्म का सहयोग देगें? यह धर्म का सहयोग होगा या धर्म-धक्का? इससे तो यही अच्छा होता कि हम जन्मते ही मर जाते या हमे मनुष्य जन्म ही न मिलता।

तब न तो माता को हमारे लिए हिंसा करनी पडती और न माता के लिए हमें। धन्य है स्वामीजी ! हिंसा के स्वरूप को अच्छा समझा और अच्छा समझाया !

आचार्य श्री के कथनानुसार यदि इसमे हम हिंसा समझ भी लें तो भी इस व्यवहार को अपनाने मे हानि नही कही जा सकती। एक लोटा पानी मुझे पिला कर, आज आपने मेरे लिए हिंसा जिम्मे ली तो कल मै भी आपको पानी पिला कर उतनी ही हिंसा अपने जिम्मे ले लूंगा। पानी तो आप और हम दोनो को ही पीना पडेगा। एक दूसरे को नही पिलायेंगे, पाप समझेंगे तो अपना-२ पीयेंगे, पर पीयेगे जरूर। विशेषता यही होगी कि आपस का सहयोग भग होने से हम सभी हानि से न बच सकेंगे। डूबते हुए को बचाने मे पाप समझ कर यदि आज मै आपको नही बचाता हूँ तो आज आपका, तो कभी उसी तरह मेरा भी जीवन नष्ट हो सकता है। सहयोग के अभाव में दोनो ही का मनुष्य जन्म नष्ट हो जायेगा।

माताजी की बात तो छोडिये, समय पर अनाचार रागी वेश्या मे बिल्कुल अनुराग न रखने वाले, हम वेश्या को भी पानी पिलाना अनुचित नही समझते। क्या जाने विपद मे पडी वेश्या, हमारे घर का उत्तम-अन्न जल खाकर सन्मार्ग ग्रहण कर ले। भटके हुए जीव क्या रास्ते पर नही आते ? पापी कौन से धर्मी नही बनते ? शुभ सहयोग पाकर क्या वेश्या, साध्वी तक नही बन सकती ?

भला अन्न और जल के ग्रहण में भी कोई पाप समझा जा सकता है ? अन्न और जल मे पाप समझने वाले स्वामीजी के अनुयायी इतना तो आज भी सोच सकते हैं कि अन्न और जल के बिना तो स्वामीजी भी, स्वामीजी बनने में कैसे समर्थ होते ?

शिष्यों का संवाद

स्वामी श्री भीखणजी के शिष्य बकरा मारने वाले को उपदेश देते है—

"तू ऐसा पाप पूर्ण कार्य न कर। जीव मारने मे महान् पाप है नरक मे भटकेगा। सेर अन्न खाना पडता है उसके लिए ऐसा पाप करना उचित नही।"*

बकरे मारने वाला प्रश्न करता है—"हे क्षमावन्त ! मेरे से भी अधिक गुनहगार है मास खाने वाले। विचारिये, मास खाने वाले यदि मास खाना छोड़ दें, तो क्या आप समझते हैं कि फिर मैं बकरे मारूगा ? इसलिए मैं उतना दोषी नही, जितने वे। मान लीजिए मैंने नही मारे, तो भी क्या हुआ, जब तक मांस खाने वाले मौजूद है मेरा भाई कोई और उन्हें मारेगा। इसलिए स्थायी लाभ के लिए उचित है, मास खाने वालो को ही अधिक समझाया जाय।

मैं भी मास खाता हूँ। यह मेरा पाप कार्य है। मैं यह हिंसा छोडने को

---

*भिक्खु-दृष्टान्त १४८, पृष्ठ ६१.

...। जद साधा उपदेश दियोः सेर धान खाणो पडै। तिण रैं अर्थे इसा पाप करे।...। वलै इसा कर्म करै तो नरक में जाय पडसी।

स्वामीजी ने तो पैसे भर लटो-(अनें कोई पचेंद्री मरतो हुवै तिणनें पइसा भर लटा खवाय नें बचायो तिण नें धर्म हुवै क पाप हुवै।...। स्वामीजी बोल्या : जिम बेन्द्री मार पंचेन्द्री बचाया धर्म नहीं तम एकेन्द्री मार पन्चेंद्री बचायां धर्म नहीं-भिक्खु दृष्टान्त २४८, पृष्ठ ९९....।) का भी पूरा ध्यान रखा पर इन्होंने तो सेर-२ धान को खाने का समर्थन कर डाला। सत्य बात कहीं न कहीं मुँह से निकल ही पडती है।

आप कहना चाहेंगे कि इसमें मुनिराज की कोई भूल नहीं जान पड़ती, पर यह इसीलिए कि हम सब अन्न खाते हैं, खाने को उचित समझते हैं। जो बेन्द्रिय की तरह एकेन्द्रीय के उपयोग में भी पाप समझते हैं उनका यह कहना कैसे उचित माना जाय ? कोई सज्जन यह कहे-"सेर भर मांस या मछली खानी पड़ती है, उसके लिए तू ऐसे पाप करता है ?" यह हमारे जी में अखरता है या नहीं ? बात यह है कि या तो इनके उपयोग को हम पाप पूर्ण ही नहीं मानते, यदि मानते हैं तो तुलना में अति अल्प। तभी ऐसा कह सकते हैं। पर मुनिराज तो थोड़े पाप का भी समर्थन नहीं कर सकते इसलिए 'सेर धान' में यहाँ पाप कैसे मानें ? इधर स्वामीजी पाप घोषित कर रहे हैं। इसलिए मानना ही होगा-"मुनिराज चूके।"

तैयार हूँ। अव आप वतलाइये—"शरीर छोडू या हिंसा छोडू? शरीर छोड़ना शायद उचित नही होगा? कौन मखमल के गद्दे आगे बिछे हुए मिल जायेंगे- (यानी कौन-से यहाँ से अच्छे कर्म काटने के साधन मिल जायेगे?) क्या पता कौन-सी योनी मे भटकना होगा। अभी तो मनुष्य भव मिला है और मिला है आप जैसे गुरुओ का शुभ सयोग। तो कृपा कर वतलाइये, ऐसे पाप-कर्म छोडने के बाद, मै अपने जीवन को कैसे खडा रक्खू ताकि आपके दर्शनो का लाभ ले सकू। ब्रह्मचर्य-व्रत पाल सकू, सामायिक पौषध का लाभ ले सकू और भाग्योदय से मिल सके तो साधु-पद को भी प्राप्त कर सकूं।"

यह प्रश्न नितान्त उचित पूछा है। पर जो गुरु अन्न-पानी में हिंसा मानते हैं, वे कभी नही कह सकते कि अन्न-जल खाकर, मजे में शरीर धारण करता हुआ, तू मोक्ष-सुख को प्राप्त करने में मन लगा। यहाँ वे मौन रहेगे या कुछ कहेगें भी? मौन रहते है तो उसकी हिसा नही छूटती है। कुछ कहते है तो कहने की स्थिति मे नही है। वहुत सम्भव है वे यही फरमायेगे—

"भाई हम साधु हैं। हमें इस विषय मे कुछ कहना नही कल्पता। यह सब तू अपने विवेक से समझ। देख, इतने श्रावक खडे है, मास न खाते हुए और ऐसी हिंसा न करते हुए, सब अपना-२ शरीर धारण किये हुए ही हैं। फिर तेरे लिए क्या कठिनाई हो सकती है?"

वह फिर पूछता है—

"हे दयासागर! इन हिंसको की तरफ इशारा करके मुझे क्यो हिंसको के पीछे ढकेल रहे है? आप जानते ही हैं—ये अन्न, जल की महान् हिंसा करके ही अपने शरीर को धारण किये हुए है। जब आप मेरे को हिंसा ही से बचाना चाहते हैं तो अहिंसा का मार्ग वतलाइये? एक हिंसा को छोडू और दूसरी को अपनाऊँ यह तो सिंह के मुँह से निकल, अजगर के मुँह में ही जाना होगा।"

मुनिराज फरमाते है—"तू साधुपना अगीकार कर ले और हमारी तरह साधु बन जा। तू सर्वथा हिंसा से बच जायेगा।"

वह फिर पूछता है—"करुणानिधान! रास्ता तो आपने उत्तम वतलाया। पर आपके आशीर्वाद से और आपके सद्-उपदेश की कृपा से मेरे मन में सब जीवो के प्रति इतनी करुणा पैदा हो गई है, इतनी करुणा पैदा हो गई है कि उनको मारना

तो दूर रहा, अब तो किसी जीव को चाहे वह पंचेन्द्रीय हो या एकेन्द्रीय, मरते या मरा हुआ ही देखता हूँ तो भी बडी दया उत्पन्न होती है। देखा ही नही जाता। एक बूद मे असंख्य जीवो वाला उबाला गया ढेर सा पानी, चक्की से पीसे गेहूँ, चने की रोटियाँ, नन्हे-मुन्ने आमो का रस, कच्ची-२ तोरुओ की छमकी हुई तरकारी, अति मुलायम छोटे-२ पत्तो की, सीलपट पर बडी बेरहमी से रगडी चटनी, जीव, युक्त डोडे की राब, उबालने पर भी सचित रह जाने वाले प्याज इत्यादि की तरकारी, अति सुकोमल फूलो के अर्क (गुलाब जल, गुलकद) आदि-२, कहाँ तक कहूँ कहते हुए भी बडी कपकपी पैदा होती है–कैसे खाये जाँय ? अचित हो गये तो क्या हुआ ? चतुर्विध सघ के अग कहे जाने वाले, अपने पास बैठने वाले, अपनी भक्ति करने वाले, अपने कहे अनुसार चलने वाले, अपनी हाँ में हाँ मिलाने वाले, और अपनी मर्जी होने पर ही आहार पानी देने वाले सुश्रावक ही तो दिन-दहाड़े जान-बूझकर इस मासूम हत्या की काली करतूत रचने और करने के पक्के दोषी है, कोई दूसरे थोडे ही है। एकेन्द्रीय हो तो क्या, पचेन्द्रीय हो तो क्या, अपने-२ प्राण सबको प्यारे होते हैं–ऐसा सोच अब मेरे से तो श्रावको के घर से लाया यह एकेन्द्रीय का आहार भी नही किया जा सकेगा। सच पूछिये तो यह आहार लाना नही है। यह तो मुर्दो की खोज है। छ काय के जीवो को अपने पुत्र के समान समझने के बाद अपने ही इस छठे महान् सुशील पुत्र का कलेवर कैसे चबाया जा सकता है, गले के नीचे कैसे उतारा जा सकता है, विचारिये ? दयावन्त ! आप इन्हें कैसे खा लेते हैं ? पता नही पर मुझ मे तो बडी ही करुणा उत्पन्न होती है। आपके रहते आपके श्रावक ऐसे पाप करें और मैं साथ दू, नाथ ! मुझसे तो यह नही हो सकेगा। आँख मीच कर अँधेरा कैसे मान लूँ ? ऐसा उपाय बतलाइये जिससे अहिंसा का यानी मोक्ष का मार्ग मिल जाय।*

---

*गलत निर्णय से विचारधारा कितनी विपरीत दिशा में चली जाती है। परमात्मा ने मुनि को हमसे आहार, पानी लेने की आज्ञा दी और हमें देने की। पता नहीं इनके दिमाग का पेच कहाँ ढीला रह गया कि इससे पूर्ण सम्बन्धित श्रावक (हमारे) के खाने-पीने को, ये आज्ञा से बाहर यानी पाप मान बैठे। स्थूल बुद्धिवाला भी यह समझ सकता है कि अपने में से कुछ देने की जब केवली

मुनिराज उत्तर देते हैं—"भाग्यशाली तू भवि जीव है। समता पूर्वक संथारा कर ले। ले, हम तुझे प्रत्याख्यान करा देते हैं। निश्चय ही तुझे मोक्ष मार्ग मिल जायेगा। तेरे भव-२ के फदे कट जायेंगे।

वह फिर कहता है—"हे मोक्षदाता ! आपका उपकार महान् है। मै आपका बड़ा आभारी हूँ। अभी शरीर छोडने की इच्छा तो नही थी पर और उपाय न देख, आपकी आज्ञा को मानते हुए उसे सहर्ष शिरोधार्य करता हूँ।

बस कृपा कर मुझे थोड़ा सा और सहारा दे दीजिए। मै नया-२ ठहरा, कही मोक्ष का मार्ग भूल न जाऊँ इसलिए आप या आपके एक दो शिष्य रास्ता बतलाने के लिए, मेरे साथ चलिए। मोक्ष तो आप सभी को जाना ही है। फिर ऐसे शुभ कार्य मे देरी क्यो ? जब एक ही जगह जाना है, तब साथ हो जाय तो और भी अच्छा। रास्ता भी जल्दी कटेगा और आनन्द भी रहेगा। आप साथ रहने से मेरा मन भी भरा रहेगा। आइये, मै लेटता हूँ, आप भी बराबर में लेट जाइये।"

आप सोचते होगे कि अब इन मुनिराजो के पास कोई उत्तर नही सो बात

भगवान की आज्ञा है तो उसके अपने उचित खाने-पीने की आज्ञा तो, उसी आज्ञा के अन्तर्गत ही है। हम ही से दिलवावें, थोड़ा दिलवावें, हिस्सा दिलवावें, सूझता दिलवावें और हमें ही खाने-पीने की मनाई हो !

फिर भी भाइयों के विचारानुसार यदि इसमें हम पाप मान लें—

तब यह मानना पड़ेगा कि इस विषय की पूर्ण जानकारी तो परमात्मा को थी और जब यह पाप ही का काम था तो परमात्मा ने इसके लिए निषेध क्यों नहीं किया। यदि कहें कि निषेध करके महापुरुष अंतराय के भागी क्यो बनें ? तो हमारा प्रश्न है असाधु को देने का निषेध करके, परमात्मा अंतराय के भागी क्यों बनें ? यदि कहें—तुम्हें पाप से बचाना था। तो क्या आहार, पानी, के पाप से हमें नहीं बचाना था ? वहाँ हमारी जगह कोई दूसरा था ? 'मुनि को देना' 'सूझता देना', 'उसके लिए न बनाना', 'अपने में से देना', 'असंजती को न देना' इत्यादि-२ इतनी तो हमारे लिए आज्ञायें और हमारे अपने खाने के लिए ? ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति !!

नहीं है। इनके पास सुबोधता की भले कमी हो पर चालाकी भरे उत्तरो की कोई कमी नही। ऐसे यदि ये किसी की पकड में आ जाते तो इतने बडे पथ का सचालन कैसे करते ?

मुनिराज फरमाते हैं—"तेरी बात बिल्कुल ठीक है। जाना तो हमें भी वहीं है। पर अभी हम नही जा सकते कारण तेरे जैसे अनेको को मोक्ष भेजने के कन्ट्राक्ट (ठेके) ले रक्खे हैं। और इससे भी अधिक अनेक एप्लिकेशन्स (प्रार्थना-पत्र) आयी पडी हैं, जिन पर भी सहृदयता पूर्वक विचार करना है। हाथ का काम तो समेटना ही पडेगा। जिम्मेवारी तो निभानी ही पडेगी। तेरी जैसी भावना हो वैसा कर। अब दूसरो के आगमन का समय हो गया है। चलें, 'गुड लक' (जैय-सा, जैय-सा)।"

पाठकवृन्द ! यह है इनका उत्तर, इनकी नयी खोज, इनकी सही समझ। द्रव्यो के प्रयोग को हिंसा समझ लेने ही मे भारी गोटाला हो गया। अब सभले, तो भी कैसे ?

साराश

गुरु की गलती तो स्वामीजी ने ठीक ही पकडी। उनका यह समझना भी सही रहा—"यह गोरिया,—'न गाय में न बलद में,' एक तरफ मन्दिरो में द्रव्य प्रयोग को हिंसायुक्त बतलाता है और दूसरी तरफ स्वय ऐसे प्रयोगो से—उपाश्रय बनाने, दया पालने के निमित्त भोजन-पानी के आरभ-सभारभ रचाने, कुएँ खुदवाने, प्याऊ लगवाने इत्यादि का जोरो से समर्थन करता है—उपदेश देता है

परमात्मा ने श्रावक को, मुनि से कहीं भी ऐसा सहयोग रखने की आज्ञा नहीं दी है जिसको करने की उसीको मनाई हो। ऐसा नहीं कहा है कि मुनि के लिए 'वेश्या-नाच' का टिकट कटा देना बड़ा धर्म है और कर्मो की महान् निर्जरा होती है। पर खिलाने-पिलाने की अपेक्षा से तो परमात्मा ने श्रावक को, मुनि का 'प्रतिपालक' तक की उपमा से सुशोभित किया है।

इसलिए शत-प्रतिशत कहा जा सकता है कि खाने-पीने की हमें परमात्मा की पूर्ण आज्ञा है। आज्ञा है वही धर्म है।

और खुले आम धर्म बतलाता है। मदिरो मे यदि ऐसे द्रव्यो के व्यवहारो से पाप होता है, तो यहाँ भी धर्म कैसे हो सकता है ? यहाँ यदि शरीर को धारण कर रखने का प्रश्न है, तो वहाँ इससे भी ऊपर श्रद्धा और चारित्र निर्माण का प्रश्न है। वहाँ यदि एक बूँद मे असख्यात जीव नजर आते है तो यहाँ आँख खोल कर क्यो नही देखा जाता ? जीव तो सब जगह समान ही है।"

अफसोस ! गुरुजी की गलती पकडने पर भी, स्वामीजी गलती सुधारने की जगह उससे भी भयकर गलती कर और भी गहरा घाव खा बैठे। उनकी समझ मे यह नही आया कि भव-रूपी अथाह समुद्र को तैर कर किनारे तक पहुँचने के लिए मनुष्य देह-रूपी नाव का भी कुछ मूल्य है।

'भिक्खु दृष्टान्त' नाम की पुस्तक इतनी गदगी से भरी हुई है कि उसकी अधिक चर्चा करने मे भी घृणा और लज्जा आती है। इससे मालूम पड़ता है कि इस तरह के विचार रखने वालो मे अतरदृष्टि का सर्वथा अभाव रहा है।

द्विशताब्दी-महोत्सव के पवित्र अवसर पर ऐसे गदे साहित्य की पुनरावृत्ति इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि वे जहाँ थे, आज भी वही हैं। जिस प्रकार खून लगे मुँह से "जीव न मारने" की बातें आदर नही पा सकती उसी प्रकार ऐसे गदे साहित्य पर गर्व करनेवालो की समन्वय की लम्बी-२ बाते निरर्थक और अविश्वसनीय ही सिद्ध होगी।

वे हमे बुरा कहे, हमारी निन्दा करे, हमे हिंसा-धर्मी कहे, कोई बात नही, हमारे है—कहे। दु ख तो तब होता है जब वे जैन-दर्शन के नाम से ऐसी गलत मान्यता अन्य दर्शनो के सामने रखते है और जैन-दर्शन को नीचा दिखलाने का कारण बनते है। आशा है हमारे भाई, जैन धर्म की महानता को बचाये रखने के लिए अपने दृष्टिकोण मे उचित सुधार कर लेगे, यही हमारी अन्त करण की अभिलाषा है। प्रसगवश जरूर बहुत कुछ रूखे भाव से कहा गया है, जो मुझे अपने भाइयो के लिए नही कहना चाहिए था पर किया क्या जाय उन्ही की लिखी यह पुस्तक इसके लिए सम्पूर्ण जिम्मेदार है। स्पष्टीकरण सहित मैंने अपने विचारो को विचारार्थ सामने रखे हैं। भाइयो के सही विचारने पर ही सब कुछ निर्भर है।

हमारा तो अब भी यह विश्वास है कि ऐसी गलत मान्यता या ओछी समझ शायद स्वामीजी की नही थी। यह तो समाज को रंग में चढा अपने लिए नाम

या धन कमाने की नीयत से किसी भारी कर्मी, स्वार्थी जीव ही की करतूत मालूम पडती है । फिर तो ज्ञानी जानें। आशा है सम्बन्धित समाज ऐसे गदे साहित्य और विचारो का पूर्णतया प्रतिकार कर मूर्ति-पूजा के विषय में या द्रव्य प्रयोग के सम्बन्ध में जो शका और गलत धारणा उत्पन्न हो गई है उसे निर्मूल कर डालेगी।

मूर्ति-पूजा से उठती हुई अनेक शकाओ का यथाशक्ति विचार विमर्श किया गया है। पाठकवृन्द देख चुके है कि शकाये कितनी निर्मूल है और उनकी धारणायें कितनी भ्रम-पूर्ण है। ऐसी शकाओ को रोज-२ जानबूझ कर आगे रखने वालो का एकमात्र ध्येय भोले जीवो को अपने चगुल में फँसाना और फँसे हुओ को मजबूती से जकडे रखना ही है । और भी कई शकायें वे गढ सकते हैं पर साँच को आँच नही। स्वच्छ हृदय से किसी भी शका पर विचार किया जा सकता है। आखिर हमे तो सत्य से मतलब है।

'मुनिराज के ठिकाने न जाना' एक बात है—"दर्शनो को जाना पाप-पूर्ण है", कहना बडा भयानक है। इससे अनैतिकता का प्रसार होता है। ऐसा कहने वाले जीव समाज के लिए महान् घातक होते है। इसी प्रकार 'मूर्ति-पूजा न करना' एक बात है, 'मूर्ति-पूजा पाप पूर्ण है' कहना महा भयानक है। ऐसा कहने वालो को कभी अच्छा नही समझा जा सकता। उनके बुरे मन्तव्य का प्रतिकार तो शक्ति भर सभी को करना ही चाहिए। मोहवश कहिये या अज्ञानतावश जनसाधारण को गुमराह करने वाले ऐसे प्राणियो ने अपने भाइयो की जिनराज भगवान की भक्ति को ही क्षति पहुँचाई है। परमात्मा अब भी उन्हे सद्बुद्धि दे, हम तो उनके लिए भी यही मगलकामना करते हैं।

पाठकवृन्द ! जब भी अवकाश मिले, साधन मिले जिनराज भगवान की पूजा का लाभ अवश्य लें। कदाचित् रुचि न हो, अवकाश न हो या इस अवलम्बन की आवश्यकता न रही हो तो पूजा न भी करे पर शका से पाप पूर्ण न समझें, यही अन्तिम निवेदन है।

उत्तरार्द्ध

समाज का महत्व एवं सुधार के साधन

अपना सहयोग

यह निर्विवाद है कि हम अपने स्वार्थ की पूर्ति और रक्षा सर्वतोभावेन चाहते है। अत पहले हमें अपने स्वार्थ को ठीक-से समझना चाहिए और यह निश्चय करना चाहिए कि हम किस स्वार्थ की पूर्ति चाहते हैं। इसका समाधान हमारी भिन्न-२ समझ और आवश्यकता के कारण चाहे विभिन्न प्रकार का हो, किन्तु आत्मा में हम शान्ति चाहते हैं या नही—ऐसा पूछने पर, कोई 'ना' नही कहेगा। वास्तव में विना 'शान्ति' के कोई सुख, सुख नही कहा जा सकता।

इससे प्रश्न यह पैदा होता है कि शान्ति को कैसे पहचाना जाय, और कैसे प्राप्त की जाय ?

वस्तु को पहचाने विना, खोजे कैसे ? सियार को सिंह समझ कर शिकार कर लेने से, सिंह का शिकार नही कहा जा सकता। शान्ति की पहचान ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

कइयो की राय है कि आपस की असमानता दूर हो जाय तो शान्ति प्राप्त हो जाय, कुछ की यह कि गरीवी नष्ट हो जाय तो शान्ति मिल जाय। कुछ का कहना है कि प्रचुर मात्रा में धन-धान्य प्राप्त हो जाय तो शान्ति मिल जाय। रोगी के कथनानुसार रोग नष्ट होने से शान्ति उपलब्ध हो सकती है। भोगी कहता है कि भोग सामग्री मिल जाय तो शान्ति सभव है। इस प्रकार भिन्न-२ इच्छाओ की पूर्ति को हम शान्ति की प्राप्ति समझते है। ज्ञानी फरमाते है—"शान्ति के अवतार तुम स्वय ही हो, वह बाहर से प्राप्त होने वाली वस्तु नही। अशान्ति के कारणो को न अपनाओ। शान्ति तुम्हारी चेरी वनी रहेगी।"

यह हम अनुभव करते है कि भूख, कलह, रोग, शोक एव जरा आदि के कारण हम अशान्त होते रहते है। हम ही क्यो, वच्चा भी खेलते-२ अशान्त हो जाता है, रोने लगता है। माता समझती हे कि अब इसे भूख लगी है। उसे दूध पिलाया

जाता है और वह खेलने लगता है। यही हालत हमारी है। भूख लगने से हम छटपटा उठते हैं। हमारी शान्ति में वाधा उपस्थित हो जाती है। हमें यह पता चलता है कि भूख हमारे अशान्ति के कारणो में से एक कारण है। वास्तव में यह हमारी शरीर-रचना से सम्बन्वित एक नियम है। प्रकृति को यह कार्य हम से नियमपूर्वक करवाना है। इसकी अव्हेलना नही की जा सकती।

अस्तु, चाहे हम इसे अशान्ति का कारण समझ कर इसके निवारण का उपाय करे, चाहे इसे प्रकृति का नियम समझ कर अपनावें और चाहे शरीर रक्षा की दृष्टि से इसे अपना कर्त्तव्य समझ कर करें, यह क्रिया हमारे लिए अनिवार्य है।

पेट हमे भरना ही होगा। शरीर की रक्षा हमें करनी ही होगी। इसके लिए हमें भौतिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। इसलिए हमें भौतिक-वाद का सहारा लेना पडता है। प्रकृति अपने आप पदार्थों को प्रदान करती रहती है। हमें तो उनका उचित उपयोग समझ कर, उन्हे उचित ढग से प्राप्त करना है।

सव पदार्थों के उपलव्ध रहते—और भौतिकवाद को अच्छी तरह जानता हुआ भी, अकेला मनुष्य अपने शरीर की रक्षा अधिक समय तक नही कर सकता। अपने शरीर की रक्षा के लिये उसे समाज के सहयोग की वड़ी आवश्यकता रहती है। यदि पृथ्वी के समस्त प्राणी इस ससार को छोड़कर, चन्द्रलोक को चले जाँय तो अकेले मनुष्य को यह दुनिया कैसी लगेगी ? क्या वह सुख का अनुभव करेगा ? उस समय हीरे, पन्ने, माणिक, मोती, सोना, चाँदी, वड़े-२ कल कारखाने, खेत, वगीचे, रेल, मोटरें, आदि सम्पूर्ण वस्तुओं का वह स्वामी हो जाता है। ऐसा होना संभव नही है फिर भी यदि ऐसा हो जाय तो वह सुखी होगा या दु:खी ? समझ यही कहती है कि वह वहुत दुखी हो जायेगा। जो दुनिया आज उसे रगीली दीखती है वह उसे इतनी भयानक लगने लगेगी कि जिसका अनुमान नही लगाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उसकी मृत्यु हो जाय तो कोई आश्चर्य की वात नही।

ऐसी दुनिया मे विद्यमान रहते हुए तथा शरीर-रक्षा के प्रकृति-प्रदत्त समस्त पदार्थों के उपलव्ध रहने पर भी विना समाज के वह आनन्द और शान्ति का अनुभव नही करता। यहाँ हमें यह समझना चाहिए कि हमारे जीवन मे समाज का हमे कितना गहरा सहयोग है। वात इतनी ही है कि समाज से हमे सहयोग तभी मिलेगा जव हम उसके साथ वरावर का सहयोग करेंगे।

इतना विचारने के बाद, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आत्मा में शान्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए, आत्मा का निवास-स्थान शरीर का पोषण आवश्यक है। शरीर का पोषण समाज के सहयोग पर ही निर्भर है और समाज का सहयोग उसके साथ बराबर का सहयोग रखने ही से हमें मिल सकता है। अतः समाज को और अपने आपको हम अच्छी तरह समझें।

संसार में भिन्न-२ प्रकृति के मनुष्य निवास करते है। उत्तम यही है कि हम सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार अपनावे, परन्तु हमारी शक्ति और मन की गति को देखते हुए यह सभव नही है। भारतवासियो के प्रति जैसे हमारे भाव है, क्या दुनिया के अन्य लोगो के प्रति वैसे ही भाव हैं? अपने कुटुम्बियों पर जैसा हमारा स्नेह है, क्या शेष भारतवासियो पर वैसा ही है? यदि नही, तो हमें इस मन की गति को समझना है। हम अपने हृदय के भावो को स्पष्ट क्यो न समझें? फिर लीपापोती करनी पडे, ऐसा अवसर ही क्यो आने दें? यहाँ हम खुले दिल से यह क्यों न कहें कि सबके साथ हमारा समान सहयोग रखना सम्भव नही है, और वास्तव में यह जरूरी भी नही है। सहयोग सबके साथ रखेंगे पर सहयोग की मात्रा में न्यूनाधिकता अवश्य होगी। इस न्यूनाधिकता से किसी को विकल होने की आवश्यकता नहीं। जितना सहयोग मेरा होगा, उतना ही आपको मेरे साथ रखना है। अधिक सहयोग का वादा कर, न निभाना बहुत बुरा है। सच्चा सहयोग कम ही क्यों न हो, बडी उदारता की बात है। अपनी पहुँच का भी हमें ध्यान रखना है। माताओ का अपने-२ बच्चो को ही दूध पिलाना सुगम और उत्तम है। दूर के लोगो को यदि हम इतना आश्वासन दे सकें कि हम ऐसा कोई भी कार्य नही करेंगे जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनको हानि हो तो उनके साथ भी हमारा यह एक अच्छा सहयोग समझा जा सकता है।

अनेक भिन्नताओं के कारण ससार के लोग अनेक गुटो में बटे हुए हैं। शान्ति बनाये रखने के लिए सारे ससार के लोगों को, भले ही वे भिन्न-२ गुटो में बटे हुए दूर ही क्यो न बसते हो, किसी न किसी रूप में सहयोग रखना परमावश्यक है। ज्ञान वृद्धि या भयकर प्रकृति प्रकोप इत्यादि के कठिन समय की दृष्टि से भी एक देश को दूसरे देश के साथ सहयोग रखना आवश्यक है।

अपनी जिम्मेदारी को ध्यान में रखते हुए, स्थिति के अनुसार जो जितने

सहयोग का हकदार है, विवेक पूर्वक उतना सहयोग तो उसके साथ हमें अवश्य रखना चाहिए। यही हमारे मनुष्य जन्म की सार्थकता है और इसी में हमारा परम कल्याण है। इसका अर्थ यह नही है कि जिस व्यक्ति ने या जिस समाज ने हमे जितनी सहायता पहुँचाई है, बदले मे हम उसे उतनी ही सहायता पहुँचाये। सम्भव है भाग्यवश हमे बहुतो से सहायता की आवश्यकता ही न पडी हो पर ऐसे अवसर आ सकते है कि उन्ही को सहायता पहुँचाना जरूरी हो जाय, तो हमे उदारता पूर्वक, उनकी सहायता बार-२ करते ही जाना चाहिए। सामर्थ्य हो तो दूर वालो को भी हम सहयोग पहुँचा सकते हैं। यही हमारा सच्चा सहयोग कहा जा सकता है। हमे तो इतना ही ध्यान में रखना चाहिए कि समाज की सेवा हमारे अपने ही हित की रक्षा है। इसमे किसी पर एहसान नही है। हम मे इतनी कमी अवश्य रहती है कि समान आवश्यकता अनुभूत करनेवालो में हम अपने समीप वाले को ही सहयोग का पहला मौका देते है। गाव की आग के साथ-२ यदि हमारे घर मे भी आग लग जाये तो पहले हम अपने घर की आग को ही बुझाने की चेष्टा करते है। वस्तुत मोह या स्वार्थ की यह भावना समान रूप से मनुष्य मात्र मे है।

इस स्वार्थ की मात्रा सभी मे समान रूप से है इसलिए चाहे इसे बुरा न माने पर प्रश्न यह उठता है कि यदि हमे समाज के सहयोग की आवश्यकता नही होती तो क्या ऐसा सम्बन्ध हम समाज के साथ रखते ? उत्तर है—'नहीं'। पर यहाँ परिस्थिति भिन्न है। यदि हम पैनी दृष्टि से देखे तो पता चलेगा कि इस परिश्रम का सारा सुफल हमे ही प्राप्त होता है। महापुरुष जितनी दौड-धूप हमारे लिए कर रहे हैं, वे हमसे कुछ पाने के लिए नही कर रहे है और प्रत्यक्ष मे न उन्हे हमसे कुछ मिलता ही है, पर इससे उनके आत्मवल मे निरतर वृद्धि होती है और उन्हें जो अतुलित आतरिक सुख की प्राप्ति होती है उसका कारण अप्रत्यक्ष रूप मे हम ही है। समाज की हम चाहे जितनी सेवा करे निष्फल नही जाती। आखिर यह हमारे निज की सेवा जो ठहरी।

असहयोग के कारण

समाज मे ऐसे भाई भी है जो उचित सहयोग की बात तो दूर रही, उल्टे अज्ञानतावश समाज को धक्का पहुँचाते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियो के अनुचित ढग के कारण समाज के सही कार्यो मे रुकावटे आने लगती हैं और उसका शुद्ध प्रवाह

विकृत होने लगता है। अत जिस 'समाज' को हम अपने लिए रक्षा की ढाल समझते है, उल्टे हमारे प्राण ले लेता है। महात्म गाधी के प्राण समाज ही ने लिए। युद्ध समाज ही लडता है।

हमे यह देखना है कि इतनी सुन्दर वस्तु में यह खरावी क्यो उत्पन्न हो जाती है ? आखिर इस सडान के क्या कारण है ? यह सडान कैसे रोकी जा सकती है ताकि हम अपनी इच्छित शान्ति को अक्षुण्ण रख सके।

कइयो की ऐसी धारणा है कि भूख ही के कारण लोग लाचार हो जाते हैं और विकृति उन्हें जवरदस्ती धर दवाती है। ऐसी स्थिति मे ज्ञान-ध्यान धरा रह जाता है।

मानते है कि कई एक ऐसे प्रसग उपस्थित हो जाते है जहाँ मनुष्य की इच्छा न होते हुए भी, कारणो से विवश होकर उसे विकृत होना पडता है। पर कारणो से अपनाइ गई विकृति क्षणिक होती है और किसी अश में उसे विकृति न कहना ही ठीक है। वह तो एक भौतिक पदार्थो की छीना-झपटी है जो आज्ञानता के कारण उत्पन्न हुई हमारी कमजोरी है। कमजोरी और विकृति मे अन्तर है। रेल मे जगह कम हो तो एक दूसरे को धक्का देकर भी हम वैठने की कोशिश करते हैं। यहाँ किसी को धक्का मारने का भाव नही होता। पर—'साधन, विवेक और त्याग-भावना' की कमी के कारण ऐसा कर वैठते है। भौतिक पदार्थो की कमी में मनुष्य को सयम से काम लेना सीखना चाहिए। मान लीजिये अकाल पड गया। सभी चाहेंगे कि पेट भर कर खाना मिले। पूरा न मिला तो क्या एक दूसरे को मार डालेगे ? ऐसा करना हमारे लिये ही अहितकर होगा। अपने से कमजोर को यदि हम मार डालते है तो हमसे ताकतवर हमें मार डालने में क्यो सकोच करेंगे। फिर हमने अपना ख्याल भी कहाँ रक्खा ? समाज रचना को कहाँ समझा ? खुशी दिल से आधे-पेट रहना, लड-झगडकर भरे-पेट से हजार गुनी अधिक ताकत उत्पन्न करता है। पर यह सव तव होता है जव हमें पूरा ज्ञान हो और समाज की शक्ति को हम समझते हो। अकेली गाय सिंह का सामना नही कर मकती। दस वीस सघटित होती हैं तो रक्षा-व्यूह वना कर सव की सव वच जाती हैं। हम तो मनुष्य है। किसी भी स्थिति का सामना करके वच सकते है। हममें ज्ञान, धैर्य, प्रेम और विश्वास होना चाहिए। यदि अच्छे

प्रयत्न मे प्राणो से भी हाथ धोना पडे, तो क्या हुआ ? अन्त में एक दिन सबको मरना ही है। आप अनुभव करेंगे कि जहाँ उस मरने में भी अनत आनन्द है, वहाँ लड-झगड़कर जीना भी महान् दु खपूर्ण है।

क्या यह कहा जा सकता है कि पेट का प्रश्न यदि हमारे सामने नही होता तो हम विकृति के शिकार नही होते ? सम्भव है उस समय हमे समाज के साथ इतना सम्पर्क नही रखना पडता। हमें ऐसा अनुभव होता है कि हम बडे सुखी होते। न किसी की नौकरी करनी पडती, न किसी के आश्रित होना पडता। शान्तिपूर्ण एकान्त स्थान मे जाकर अपने कुटुम्ब के साथ या अकेले ही आनन्द मे दिन व्यतीत करते। निन्यानवे प्रतिशत झझटें टल जाती। किन्तु दूर के ढोल ही सुहावने लगते हैं। जब तक जन्म, मरण, रोग, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि हमारे सामने मौजूद है तब तक छाती ठोककर नही कहा जा सकता कि हम सुखी हो ही जाते। पाकिस्तानियो के समर्थको ने सोचा था कि हिन्दुओ को मार भगाने के बाद वे-बडे सुखी हो जायेगे पर उनको ऐसा सुख हुआ कि मार्शल-ला की लौ मे जलना पडा। ऐसे-२ करोडपति जिनके खाने-पीने आदि की कोई समस्या ही नही, बिचारे पहले से कही अधिक दु खी है। न तो उन्हें पूरी नीद आती है और न उनके मन में आगे जैसी शान्ति ही है। भेषधारी जैन साधुओ को ही देखिये—उन्हे न जुटाना पडता है, न पकाना। भोजन तो उन्हें जितना चाहिए, गृहस्थो के घर खुले है। फिर भी उनका आपसी मन-मुटाव छिपा थोडे ही है।

विचार कर देखा जाय तो पेट का प्रश्न विकृति-उत्पन्न होने का मुख्य कारण नही है। पेट भरने का भार, प्रकृति ने पहले ही से अपने ऊपर ले रखा है। बच्चे की खुराक उसके जन्म लेने के पहले ही उसकी माँ के पेट मे तैयार हो जाती है। बिना परिश्रम के ही जब बच्चे की खुराक बच्चे को मिल जाती है तो कोई कारण नही दीखता कि हमे परिश्रम करने पर भी अपनी खुराक नही मिलेगी। अबोल पशु-पक्षी भी अपना पेट भर लेते है। फिर मनुष्य जैसे बुद्धिमान प्राणी के लिए क्या कमी रह सकती है ? वास्तव मे विकृति का कारण 'भूख' नही है। उल्टे 'विकृति' ही जिसके कारणो पर हम आगे विचार करेंगे, इस भूख की जननी है। बडे-२ युद्धो को लड कर लाखो-२ टन खाद्य-पदार्थो को नष्ट कर डालना, भयंकर बमो के प्रयोग से जमीन को खेती के लायक ही न रहने देना और लोगो

के परिश्रम को जीवनोपयोगी पदार्थों के सग्रह से हटा कर अन्य तरफ झुका देना आदि ऐसे-२ कार्य, भूख की जननी नही तो और क्या है ? जीवनदायिनी औपधि न बना कर आज हम मनुष्य के प्राण लेने वाली बन्दूक की गोली तैयार करते है। सकट में सहयोग रखने की जगह तुच्छ स्वार्थ के लिए प्राण लेने की चेप्टा करते हैं। तव हमारा भला कैसे हो सकता है ?

विकृति चाहे पेट के प्रश्न को लेकर उत्पन्न हुई हो अथवा अन्य कारणो से, उसका उत्पन्न होना ही भयावह है। यही हमारी आशान्ति का मुख्य कारण है। विकृति से विकृति ही बढती है और उस की ज्वाला में हम सभी झुलसते रहते हैं।

जब सबकी समस्या एक है और समस्या का सच्चा हल सबका प्रेम पूर्वक सम्मिलित सद्प्रयत्न ही है फिर हमारे कुछ भाई या हम सभी विपरीत दिशा में क्यो चले जाते है ? क्यो विकृत हो जाते है ? यदि भूख इस विकृति का असली कारण नही है, तो इसका सही कारण क्या है ?

"हम क्यो विकृत हो जाते है ? हम आपस मे क्यो टकरा जाते है ? क्यो एक दूसरे का अनिप्ट करने पर उतारू हो जाते है ?" इनका एकमात्र उत्तर है —"हमारी अज्ञानता, हमारे विपयो और कपायो का जोर।" विपय सुखो में पागल हम उसी तरह अनियन्त्रित हो जाते है जिस तरह मनुष्य, मनुष्य होते हुए भी नशे मे अनियन्त्रित हो जाया करता है। इसी कारण हम अपने मन को वश मे नही रख सकते और हमे या समाज को हानि हो या लाभ बिना-विचारे हम कार्य करने लगते हैं।

युद्ध करने वालो ने क्या सोच कर युद्ध किया ? यही न कि वे और अधिक आराम में रहेंगे। वे न रहे, तो भी कम-से-कम उनकी आने वाली पीढी तो मौज करेगी। भारत को अधीन करने के लिए मरने वाले अग्रेजो ने भी यही सोचा होगा कि कम-से-कम उनकी अगली पीढी तो बडे मौज से रहेगी। पर आज उनकी पीढी कैसी मौज ले रही है ? उनकी धारणा झूठी सिद्ध हुई या नही ? यही हालत धोखा, चोरी इत्यादि करने वालो की है। ऐसा सोच कर अनर्थ करना कितनी भयकर भूल है, यह इतिहास से जाना जा सकता है।

भूख के सताये बिचारे भीख मागने लगते है या मर मिटते है पर अन्याय नही

करते । अन्याय तो विपयो के मारे भरे पेट वाले ही दिन-दहाड़े करते है। विपयो और कषायों के सम्बन्ध मे, शास्त्रकारो ने भिन्न-२ रूप से महान् विवेचन किया है, जिनका विस्तार पूर्वक ज्ञान उनके लिखे ग्रन्थो से प्राप्त कर सकते है।

सही चिन्तन (सम्यक्-ज्ञान)

यदि हमारा मन यह मानता हो कि प्रेम पूर्वक रहने से हम सब का परम मगल है, फिर कठिनाई किस बात की है। जिसको प्राप्त करने मे गाठ की एक कौडी और क्षण-मात्र समय की भी आवश्यकता न हो, ऐमी सफलता की कुजी को ग्रहण न करे तो हम कैसे चतुर और बुद्धिमान मनुष्य है, यह हमें सोचना चाहिए।

यदि कोई ज्ञान के सम्पर्क मे न आने के कारण भूल करे तो हो सकता है उसे अधिक दोप न दें पर उस 'भूल' के लिए समाज को तो सजा मिल ही जाती है। इसलिए हर हानि से बचने के लिए प्रत्येक का ज्ञानवान होना बहुत जरूरी है।

आज भी हम प्रत्यक्ष देख रहे है कि हमारी बहुत बडी हानि इसी ज्ञान के अभाव मे हो रही है। हम किसी भी नारा लगानेवाले के पीछे नारा लगाने लगते है। अत. ज्ञान प्राप्त करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।

कठिनाई यदि इतनी ही होती तो हमारी समस्या कभी हल हो गई होती। ज्ञान की प्राप्ति हमे हो सकती है और हम कर भी लेते है। जैसे वैद्य मना करता है कि अमुक वस्तु मत खाना। रोगी को भी पूर्ण ज्ञान हो गया है कि अमुक वस्तु खाना ठीक नही है, फिर भी वह खा ही लेता है। एक नही हममे से अनेक इसी प्रकार की गलती करते है। इसका क्या कारण है? अन्ततोगत्वा यही मानना पडता है कि मन वश मे नही रहा। हम मन पर नियत्रण नही रख सके।

आधुनिक उन्नतिशील लोगो की भौतिक उन्नति और उनके साहित्य को देखकर, यह कहा जा सकता है कि उनमें प्रचुर मात्रा में ज्ञान है। पर उनकी स्थिति अति भयानक है। अवसर आने पर वे एक दूसरे को समूल नष्ट कर सकते हैं। इस विनाशकारी वृत्ति का कारण कम-से-कम उनकी अज्ञानता या उनके पेट का प्रश्न तो नही है। थोडी देर के लिए मान लें—"इसका कारण उनमें 'ज्ञान की कमी' ही है। उनमें वास्तविक आत्म-ज्ञान नही है। विषयो का उन्हें भान नही है। ससार की क्षणभंगुरता का बोध नही है। परभव का डर नही है।" हो सकता है यह सत्य हो।

पर क्या हमारे जैन साधुओ को भी आत्मा का ज्ञान नही है ? विषयो के सम्बन्ध मे जानकारी नही है ? ससार की क्षणभगुरता का ध्यान नही है ? यदि है, तो वे क्यो कलह मे फँसे हुए है ? साधुओ की बात जाने दीजिये, धुरधर आचार्यो को ही देख लें। हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि "ज्ञान की कमी" ही इन कलहो का एकान्त कारण नही है। तब दूसरे कारणो को भी ठीक से समझने की आवश्यकता है।

ज्ञानियो की लडाई समुद्र में लगी आग के समान है। अज्ञानियो की लडाई, अज्ञान दूर हो जाने पर मिट जाने की आशा तो रहती है पर ज्ञानियो की लडाई–हरे राम ! ज्ञानियो के कथनानुसार इस कलह के बीज है—"मान और मद, ईर्ष्या और द्वेष।" ताकतवर को मान और मद का रोग अधिक रहता है, कमजोर को ईर्ष्या और द्वेष का।

वस्तुत यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि यह कमजोरी बडे-बडे ज्ञानियो मे भी विद्यमान है। हम जानते है कि क्रोध करना बुरा है, काम-वासना बुरी है। फिर भी हम इन्हे रोक नही सकते, इनसे बच नही सकते। क्या इनसे बचाव नही हो सकता ? यदि बचाव न हो सकता हो तब बचाव की परेशानी मे पडना बेकार है और यदि बचाव सभव हो तो उन उपायो को हमे जानना चाहिए ताकि हमें भी अपने जीवन में उचित लाभ की प्राप्ति हो सके।

यह निश्चित है कि बचाव हो सकता है। बहुत से सफल हुए हैं। हम सफल न हो, यह दूसरी बात है। इसके लिए पूर्ण अनुभव और निरतर कठोर अभ्यास की आवश्यकता है।

किसी से वस्तु उधार या माग कर लानी हो, या किसी दूसरे को समझाना हो तो मामला दूसरो पर आश्रित होने के कारण वहाँ सफलता सन्दिग्ध हो सकती है परन्तु 'अपनी ही भलाई के लिए, अपने ही मन पर, अपना ही नियत्रण कायम करना है'—यह इतना सरल और सीधा लगता है कि हम शीघ्र यह सोच लेते है—"ऐसा तो हम कभी का कर लेते।" पर सुनने और समझने में यह जितना सरल लगता है, जीवन मे उतारना उतना ही कठिन है।

हमारा मन चचल घोडे के समान है। लगाम लगा कर हमें उसे उचित रास्ते पर चलाना है। वह कभी भी बिगड कर रास्ता छोड सकता है और हमें

गड्ढे में गिरा सकता है। हमें पूरी ताकत से उसे संभालना है। यदि हम अपने मन को उचित रास्ते पर चला सकें जो हमारे ही वश की बात है तो दुनिया के तमाम झगडे उसी प्रकार शान्त हो जायेंगे जिस प्रकार तैल न रहने से दीपक शान्त हो जाता है।

हमें अपने हित-अनहित का ज्ञान होना आवश्यक है। अंगारे से हाथ जलता है इसलिए हम अगारे को हाथ से नही छूते। इसी प्रकार प्रत्येक वात का हमें बोध होना चाहिए। किसमे हमारा हित है किसमे हमारा अहित, यह हमे सबसे पहले मालूम होना चाहिए तभी हम अपने मन को उस ओर उन्मुख कर सकेंगे और अहित से बचा सकेंगे। जीवन में हम धोखा भी वहुत खाते है। अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा समझ लेना एक मामूली बात है। जिस पानी में हाथ डाल कर यह अनुभव करते हैं कि पानी ठडा है, हाथ में थोडी देर बरफ पकडने के वाद, हाथ डाल कर देखते हैं तो वही पानी गर्म लगने लगता है। जो वस्तु खाने में आज हमे अत्यन्त स्वादिष्ट लगती है ज्वर हो जाने के कारण वैसी नही लगती। इसी तरह परिस्थितियाँ वदलती रहती हैं और यदि हम उनका पूरा घ्यान न रखें तो हमारे अल्प ज्ञान पर अडे रहने से हमे धोखा हो सकता है। इसलिए प्रत्येक निर्णय काफी विचार के वाद होना चाहिए।

जवानी की वहुत सी भूलें हमें बुढापे मे अनुभव होती हैं पर जवानी मे वे भूलें, भूले नही लगती। हमारा ज्ञान जितना ही परिमार्जित होगा हम वस्तु विशेष या कारण विशेप पर उतनी ही गहराई से विचार कर सकेंगे। इसलिए उचित यही है कि हम अपने पूर्वजो के ज्ञान का खूब अध्ययन करे। सम्भव है परिस्थितियो के वदल जाने से उनकी वतलाई हुई बहुत सी बाते आज व्यावहारिक न रही हो पर कुछ वाते और अधिक मूल्यवान हो गई हो तो उनको जानने से हमारा वहुत बडा हित हो सकता है। भाग्यशाली पुरुषो ने यही कहा है कि व्यक्ति को समय पर क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए इसके आखिरी निर्णय के अधिकारी, वे नही हैं। आखिरी निर्णय तो उन्होने उस व्यक्ति के उपयोग और विवेक पर ही छोड़ा है। तव देश और काल का अनुमान लगाना हमारा कर्त्तव्य है।

हमारा हित इसी में है कि आपस में कलह न करके हम मिलकर प्रेम पूर्वक कार्य करें। यह तभी सम्भव है जब अन्याय नही करेंगे और न्याय पर डटना सीख लेंगे। हम भिन्न-भिन्न शक्ति और विवेक को लेकर ही जन्म लेते है। पर, यदि हमारी गति में सात्विकता हो तो कोई कठिनाई पैदा नही होती। जैसे इजन में छोटे और बडे दोनो प्रकार के पहिये लगे होते हैं पर दोनो का कार्य सही रूप में होता रहता है।

बचपन में हम जो कुछ होते हैं, जवानी में हमारी वह स्थिति नही रहती और बुढापे मे तो हम कुछ और ही हो जाते हैं। जब हमारा जीवन ही इतनी असमानता से पूर्ण है और इसे भी हम निभा लेते हैं तब समाज की भिन्नता से क्यो घबरावें।

अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियो को साथ लेकर हम जन्म लेते हैं। एक छोटे बालक में भी क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि पाये जाते हैं। एक बच्चे को कोई वस्तु दे दे और दूसरे को न दे तो दूसरा ईर्ष्या करता है। जब हम उसी के सामने पहले लडके से उस वस्तु को छीन लेते हैं तो दूसरे लडके के मन मे सतोप की लहर का अनुभव करते हैं। उसे क्या लाभ हुआ ? लाभ चाहे कुछ भी न हो, वह सोचता है—"मुझे नही मिली तो क्या इसे भी तो नही मिली। एक को न मिलने के आनन्द मे अपने को न मिलने की चिन्ता को वह भूल जाता है। बच्चे की नादानी पर हम हँस सकते है, पर आश्चर्य होगा कि हम भी ऐसे ही नादान हैं। क्या हम नही जानते कि हमे अपनी गरीबी की उतनी चिन्ता नही जितनी अपने पडोसी के धनवान बन जाने की। यदि उसे फिर गरीब हुआ देखते है तो मन ही मन बड़ा सतोप होता है। हमे क्या लाभ हुआ ? यह हमारी नादानी ही तो है। बच्चे की नादानी मे और हमारी नादानी में अन्तर इतना ही है,—"उसकी अज्ञानता पर आधारित है और हमारी क्षुद्रता पर।"

कभी-२ यह अनुभव होता है कि बच्चे अपनी वस्तु को दूसरे की वस्तु के मुकाबले अच्छी जान कर गर्व की अनुभूति करते है। बच्चो में विनय और प्रेम की मात्रा भी अधिक होती है। जैसे-जैसे वे बडे होने लगते है ये गुण, अवगुण भी

विकसित होने लगते हैं। मनुष्य योनि की यही एक विशेषता है कि विवेक पाकर वह अवगुणो की जडे काट सकता है और गुणो को वढा सकता है।

ज्ञानी उचित रास्ता वता सकते हैं, चलने की सुगमता समझा सकते हैं पर हमारे लिए जो कुछ हो सकता है हम ही से होगा। समाज की वडी से वडी सेवा—"अपने आपका ही सुधार" है। हमारे अपने सुधार मे इतना चत्मकार विद्यमान है कि उसके कारण सैंकडो मे सुधार के अकुर प्रस्फुटित हो सकते है। सभव है अत्यधिक कुठित होने के कारण समाज पर हमारे उस सुधार का असर न पडे, पर हमारा तो उसमे सोलह आना कल्याण है। समाज सुधरे अथवा न सुधरे पर हमें सुधर कर रहना है। गुणो को अपनाना है एव अवगुणो से बचना है।

"हम चाहते है कि हमारा स्वामी हमारे साथ अच्छा व्यवहार रखे तो हमें भी अपने नौकरो के साथ अच्छा व्यवहार रखना चाहिए। हम चाहते हैं कि कोई भी हमारी वस्तु चोरी न करे, तो हमे भी किसी की चोरी नही करनी चाहिए। हम नही चाहते कि कोई उधार लेकर हमे नही लौटाये, तो हमे भी किसी से ली हुई उधार को नही डकार जाना चाहिए। हम नही चाहते कि चुनाव में विजयी होने के वाद कोई हमसे द्वेप या असहयोग करे, तो हमे भी दूसरे विजयी के साथ द्वेष या असहयोग नही करना चाहिए। हम नही चाहते कि कोई हमारे धन या हमारी कीर्ति से द्वेष करे, तो हमे भी किसी के साथ द्वेष नही करना चाहिए।" दूसरो की स्थिति मे यदि मै होता तो क्या चाहता, इतना विचार कर लेने से उचित प्रेरणा अपने आप मिल जाती है। न्याय की तराजू हमारे हृदय मे टगी हुई है। वास्तविक न्याय हम जव चाहें उससे प्राप्त कर सकते है।

आगे इससे सम्बन्धित हित की कुछ और वातें जाननी अभी अवशिष्ट हैं, जैसे अधिक खाकर रोगी हो जाना, अधिक सहवास से निस्तेज हो जाना, अधिक चिन्ता से कमजोर हो जाना, आदि। इन सब से प्रत्यक्ष में तो समाज के दूसरे लोगो की हानि नही होती, पर हमारी हानि होने से समाज की हानि तो है ही क्योंकि हम भी तो समाज के ही अग है। इसलिए ऐसी हानि के सम्बन्ध मे भी जानकारी कर लेना हमारे लिए आवश्यक है।

जानकारी की समस्या को हम सहयोग और विवेक से सुलझा सकते है पर विकट प्रश्न है न्याय पर हमारे कायम रहने का, चरित्रवान बनने का। न्याय

पर कायम नही रहना ही विकृति या चारित्र्य-ह्रास है। यही हमारी शान्ति का परम शत्रु है। इधर हमारे मन की यह हालत है कि वह स्वेच्छा से न्याय पर रहना ही नही चाहता।

मन को सही रास्ते पर लाने के प्रयत्न ही का नाम "स. I ाा" है। इसी को मन पर अंकुश लगाना कहते हैं। यह अंकुश दो सम्मिलित उपायो से लगाया जा सकता है। एक समाज का तथा दूसरा अपने आत्म-बल का। समय और स्थान की दृष्टि से दोनो ही अंकुश अति प्रभावशाली होते हैं और एक दूसरे के सहायक भी। समाज का अंकुश भौतिक साधनो से और बाहरी क्रियाओ से ही अधिक सम्बन्धित होता है जबकि आत्म-बल का अंकुश ज्ञान, विवेक, त्याग, तपस्या आदि आंतरिक भावो से सम्बन्धित होता है।

जीव की अबोधता के कारण उसको सही रास्ते पर चलाने मे समाज का अंकुश ही विशेष काम देता है।

समाज के अंकुश को प्रभावशाली बनाये रखने के लिए हमे एक संगठन की आवश्यकता होती है जिसको हम पंचायत या सरकार कहते है। हम ही उसकी स्थापना करते हैं और हम ही उसकी आज्ञानुसार चलते है। सभी से थोडी-२ शक्ति पाकर सरकार एक महाशक्तिशाली केन्द्र-बिन्दु बन जाती है और हम सभी को उचित रास्ते पर रखने और कष्ट के समय रक्षा करने में सक्षम बन जाती है। इसी धुरी पर हम सबका जीवन-चक्र निर्विघ्नतापूर्वक चला करता है। कभी-२ इसमे भी खराबी उत्पन्न हो जाती हैं और ऐसी अवस्था मे हम सभी विशृंखल हो जाते हैं। ऐसी स्थिति को रोकनेवाले भी हम ही होते है और यहाँ हमे अधिक विवेक पूर्वक कार्य करना पडता है।

चाहे हम इस केन्द्र-बिन्दु के अंग बन कर कार्य करते हो और चा. उसके सहायक अंग बन कर रहते हो, उत्पन्न हुई विषमता को दूर करना प्रत्येक का कर्तव्य होता है। हमारा बचाव हमारे ही हाथ है और बचाव यही है कि हम अपने जीवन को सत्य और न्याय पूर्ण बनावें।

मानते हैं कि सुयोग्य सरकार जन-२ के जीवन को सुधारने में सहायता करती है पर जन-२ के सुधरे जीवन ही से सरकार की सुयोग्यता अक्षुण्ण रहा करती है। यहाँ एक होते हुए, दो बन जाते हैं और दो होते हुए भी एक ही हैं। फिर भी

किसी सीमा मे सरकार पर ही अधिक जिम्मेवारी आती है क्योंकि हममें से अधिक समर्थ और योग्य व्यक्तियो का ही वह समूह हुआ करता है। यही तो हमारी मजबूती की धुरी कही जाती है और इसी द्वारा हम सचालित होते है। सरकार वहां पूर्णतया सफल समझी जाती है जो जन साधारण के चरित्र का गठन कर उसे ऊँचा उठाती है, और वही सरकार निकम्मी मानी जाती है जिसके कार्य काल मे जन साधारण के चरित्र का पतन होता है। सरकार की परीक्षा की यही सच्ची कसौटी है। भौतिक उन्नति तो देश का निष्प्राण शरीर मात्र है। देश की सच्ची आत्मा तो हमारा शुद्ध चारित्र्य ही है।

चरित्र-निर्माण मे सरकार की व्यवस्था का बहुत बडा हाथ जरूर होता है फिर भी हमारा अपना नियत्रण कम महत्वपूर्ण नही होता बल्कि मुख्य तो वही होता है। सरकार हम पर कहाँ तक निगाह रख सकती है और कहाँ तक हमारी सहायता कर सकती है? अपने आप को सभालकर रखना बहुत कुछ अपनी ही जिम्मेवारी है।

कैसी भी कठिन परिस्थिति क्यो न आ जाय हमें न्याय पर ही डटे रहना चाहिए। कठिन समय ही हमारा परीक्षाकाल होता है। इसमे उत्तीर्ण होने वाले ही उत्तीर्ण कहे जाते है। बड़े-बड़े महापुरुषो के जीवन को देखे, प्राणो तक की बाजी लगादी पर न्याय पर डटे ही रहे।

प्रश्न हो सकता है कि समाज में यदि अन्यायियो का जोर हो जाय और हमारी सरकार, जिसकी उन्हें सभाल कर रखने की जिम्मेवारी है, कमजोर होने के कारण न सभाल सके तो ऐसी स्थिति मे हम न्याय पर कैसे टिके रह सकते है, कैसे अपने चारित्र्य-तरु को पल्लवित कर सकते है? आखिर हमारी शान्ति भी तो अप्रत्यक्ष रूप मे समाज के न्याय और शान्तिपूर्ण वातावरण पर ही अधिक निर्भर है।

इसमे कोई सन्देह नही कि यदि अन्यायियो का जोर हो जाय तो हमारा सुधर कर रहना बडा कठिन है। लेकिन दूसरो का सुधार करना हमारे हाथ थोडे ही है। लाख चेष्टा करने पर भी हम सफल न हो। अन्याय तो निश्चित ही अन्यायी के मन की गिरावट से उत्पन्न होता है और प्रगट रूप मे हमारे सामने आकर हमे हानि पहुँचाता है पर जब तक उसके मन की गिरावट नही रुकती, यह

अन्याय रुक नही सकता। समाज एव सरकार शक्तिशाली हो तो कदाचित् बाहर के अन्याय को रोक दे, हमारा बचाव भी कर दे पर आंतरिक सुधार, उसके समझे बिना कोई नही कर सकता। जब तक व्यक्ति का आतरिक सुधार नहीं होता स्थिति का सच्चा सुधार नही कहा जा सकता। यह किसी भी समय प्रज्वलित हो सकता है और सकट हम पर छाया ही रहेगा।

किसी के मन की गिरावट को कैसे रोका जाय? जब हम अपने मन की गिरावट को ही पूरी तरह रोक नही सकते तब दूसरो की गिरावट को रोकने की चेष्टा करना तो अपना उपहास कराना ही है। इधर हमें अपनी रक्षा करनी भी जरूरी है। तब क्या रास्ता निकालें? कौन-सा उपाय काम में ले?

उनकी बुरी प्रवृत्तियो को देख कर हम उन्हें प्रेम-पूर्वक समझाते है-"भाइयो, ऐसा करने से कोई लाभ नही। इसमें सभी की हानि है। शान्ति से रहना चाहिए और दूसरो को भी शान्ति-पूर्वक रहने देना चाहिए। कष्ट के समय हम एक दूसरे की सहायता किया करें। ऐसा न कर, उल्टे हानि पहुँचावें यह कितने अफसोस की बात है। पर असुर वृत्तियो के उदय के कारण वे कब मानने वाले है।

बचाव के लिए हम अपने सगठन के उपाय को भी काम में लेते हैं पर इसमें हमे शायद शीघ्र सफलता की प्राप्ति न हो। कारण मनुष्य अनादिकाल से असुर वृत्तियो की तरफ झुकने का आदी है। फिर हमारी विजय कैसे हो?

सोच कर देखा जाय तो आज के ससार का ठीक यही स्वरूप है। असुर वृत्तियो को दबाना महान् दुष्कर कार्य है। हमारे सामने फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने बचाव के लिए ही अन्यायी के अन्याय को कैसे रोकें?- हमने शान्ति का मूल्य आका, हमने समाज की महत्ता समझी, हमने अपनी कमजोरी समझी एव कमजोरी दूर करने के उपाय समझे। पर इस प्रश्न के सामने तो बुद्धि चकराती है। क्या यही उत्तर दें-"यह तो कालचक्र का प्रभाव है। इसे कोई रोक नही सकता। ये दबेंगी तो अपने ही वजन से। हम इसके लिए कुछ नही कर सकते।"

अन्यायी घातक अस्त्रो-शस्त्रो से लैश है। समझाते हैं तो समझता नही है। खाली हाथो सामना करते है तो वश नही चलता। उसकी बराबरी करते हैं

तो भविष्य के लिए 'शान्ति' की कब्र अपने हाथो से खोदते है। क्या विचित्र दशा है हमारी ? इधर देखते हैं तो कुआँ और उधर खाई। आज हम अपनी रक्षा की दृष्टि से ही, अस्त्रो-शस्त्रो से लैश हो जायेंगे। कल आपस में ही मन मुटाव हो गया तो ? निश्चय ही ये अस्त्र-शस्त्र हमारे ही सर तोड़ने वाले होंगे। मनुष्य होकर मनुष्य को समझा नही सकते, मनुष्य की तरह रह नही सकते, यही हमारी महान् विडम्बना है।

शत्रु यानी अन्याय का सामना करना हो तो आत्म-बल से सामना करना चाहिए, तब जीत होती है। अन्यायियो का संगठन टिक नही सकता। अन्यायियो में प्रीति नही निभ सकती। यह तो वन्ध्या पुत्र को खेलाने जैसी बात है। मान लें कि कुछ देर के लिए उन्हे थोड़ी सफलता मिल गई तो भी उनका अन्त होने में देर नही लगती। भोले लोग जो उनका साथ दे बैठते है उन्ही की हरकतों से घवड़ाकर वैसे ही उनकी छाती पर चढ बैठते हैं जैसे कई देशो मे रातों रात फौजी शासन बने है। उनका अन्त सुबह तक का भी इन्तजार नही करता।

आप ही सोचिये, उनका बहुमत कैसे होगा और कैसे टिकेगा ? संसार का बहुमत अपना अहित नही चाहता। जब सब अपना हित चाहते हैं तब हमारे बहुमत में सन्देह ही कौन-सा है ? निश्चय ही बहुमत हमारा होगा और सारा संसार हमारे पीछे होगा। हमारे संगठन में वह ताकत होगी कि हमारे अन्यायी के अन्याय का ही खात्मा हो जायेगा।

क्या हम अपने पूज्य बापू को भूल गये ? क्या उनके हाथ मे तलवार या बन्दूक थी ? जिनका उन्होंने सामना किया, क्या उनके हाथ में बन्दूक और तोप नही थी ? फिर ऐसे शक्तिशालियो के हाथ से अपनी वस्तु उन्होंने कैसे प्राप्त कर ली ? करोड़ो के दिलो को उन्होंने कैसे जीत लिया ? ससार उनके पीछे कैसे हो गया ? मृत्यु पर्यन्त किस प्रकार न्याय पर डटे रहे ? वे ऐसी सौरभ छोड गये, कि आज भी संसार का कोना-२ सुवासित हो रहा है। न्याय पर डटे रहने से किस प्रकार सफलता मिलती है उसका यह एक जीता जागता ज्वलंत उदाहरण है। हमें समझना चाहिए कि न्यायी, एक मनुष्य भी, क्या कर सकता है और उसमें कितनी अपूर्व शक्ति होती है ? फिर हम अपने आप को कमजोर महसूस क्यो करे और क्यों न्याय पर डटे रहने से घवड़ावें।

कहा जा सकता है—"सिंह का सामना एक ढंग से ही होगा। वहाँ हमारे साधुपने से काम नहीं चल सकता। पाकिस्तान और चीन जैसे भयानक देशों का सामना बातों से नहीं हो सकता और न शान्ति, शान्ति की रट से। उत्तर दीजिये ऐसे ठिकाने—अपना बचाव कैसे करे ?"

प्रश्न बिल्कुल यथार्थ है। उनकी बुरी मनोवृत्ति को न बढने, और उदय में न आने देने के लिए हमें हर तरह से शक्तिशाली बने रहना अति आवश्यक प्रतीत होता है। बात इतनी ही है कि उस शक्ति को नियन्त्रित रखते हुए हमें उसका उचित उपयोग मात्र करना होगा और हमें यह समझना होगा कि हमारा 'आपस में प्रेम' सब अस्त्रों-शस्त्रों से हजारों गुना अधिक शक्तिशाली अस्त्र है। सिंह, सिंह होने पर भी गाय पर जल्दी से हमला नहीं करता। हमारे आपस के दृढ प्रेम को जब शत्रु समझ लेगा तब वह भूल कर भी हमारी तरफ नहीं ताकेगा। एक एक धागा जब रस्सी का रूप ग्रहण कर लेता है तो बडे-२ मदमस्त हाथियों को भी बाँध देता है।

यह ठीक है कि हवा जैसी चलती है विवेक पूर्वक हमे अपने बचाव का रुख भी बदलना पडता है। पचास वर्षों में ही संसार ने कैसा पलटा खाया है और आगे के अस्त्र-शस्त्र कैसे निकम्मे हो गये हैं, यह सब हमारे सामने हैं। कुछ ही वर्षों बाद कौन जाने क्या परिवर्तन आयेगा और आज के ये अस्त्र-शस्त्र भी कितने मूल्य वाले रहेंगे, कोई नहीं कह सकता। कुछ-न-कुछ सभी में कमजोरी होने के कारण, आज जो हमारे साथी हैं, कल उनका क्या रवैया रहेगा कोई नहीं जानता। इतना तो सोचें कि हमारे जैसे बडे देश को ही यदि अस्त्रों-शस्त्रों के बिना खतरा हो जायेगा तो अति छोटे-२ देश जैसे अफगानिस्तान, लंका, इत्यादि की स्थिति कैसे सभली रहेगी, जो चाहने पर भी इतने साधन-सम्पन्न नहीं बन सकते। यदि वे बचे रह सकते हैं—(जैसे कि अन्य इतने शक्ति सम्पन्न देशों के रहते हुए भी आज तक बचे हुए हैं)—फिर हमारा ही बिगाड क्यों हो जायेगा ? कुछ तो हमें अपने ऊपर भरोसा होना चाहिए। अन्तरात्मा यही गवाही देती है कि हमारा अस्त्रों-शस्त्रों मे लैस होने का रास्ता सही नहीं है। सही यही है कि सभी भाइयों से अपने मन मुटाव को दूर करके समझदारी से जितनी जल्दी हो सके किसी भी कीमत पर भेद-भाव दूर करते हुए, अन्त करण का शुद्ध प्रेम बढा ले। आज हमे यह

अपना अपमान जैसा लग सकता है या हमे कुछ भौतिक पदार्थो की हानि हो सकती है किन्तु कालान्तर मे अपने हृदय की सच्ची सेवा-भावना के कारण हमे व्याज सहित अपना मूल्य वापिस मिल जायेगा। मनुष्य होने के नाते हमारा भी कुछ फर्ज है। मनुष्य मात्र का स्थायी कल्याण चाहने वाले तो आपस के प्रेम को ही सफल, अजय और शक्तिशाली अस्त्र समझते हैं।

अन्यायी के अन्याय को रोकना हो तो पहले हमे न्याय पर चलना चाहिए। उसके अन्याय को हम इसलिए नही दबा पाते कि हम स्वय न्याय का रास्ता छोड बैठते है। यही हमारी मुख्य कमजोरी है। यही असली कारण है कि हमे पूर्ण सफलता नही मिलती। दूर क्यो जावे, क्या हम अपने भाइयो के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार आज भी अपना रहे हैं ? क्या हममे सच्चा प्रेम है ? क्या हमारे सरकारी कर्मचारी न्याय करने मे ईमानदार है ? नेता लोग पदो के लिए आपस मे नही लड रहे है ? जब शस्त्र ही जग लगा हो तो मैदान जीतने का प्रश्न ही कैसा ? हम सफलता की आशा ही कैसे करें ? यदि विजय प्राप्त कर भी लेगे तब भी हम आपस मे कट मरेगे। सत्य और न्याय के बिना सब शून्य ही है।

जब हम न्याय पर दृढ रहेगे तो सारा ससार हम से सहयोग रखेगा। यही एक उपाय है जिससे अन्यायी रास्ते पर लाया जा सकता है। आशा है हम मे उचित ज्ञान का उदय होगा और हम सब जो थोडे समय के लिए यहाँ रहने आये है, शान्तिमय जीवन व्यतीत करने में सफल होगे। संसार की अशान्ति और अन्यायी के अन्याय को देखकर हमे घबडाना नही चाहिए। ससार में कैसी भी अशान्ति क्यो न हो उसे दूर करने का या उससे दूर रहने का यही उपाय है कि हम न्याय पर डटे रहे। शान्ति की शीतलता हमे बराबर मिलती रहेगी। हमारा यह धन हमसे कोई छीन नही सकता।

स्वनियत्रण

दूसरो से हमारा बचाव अपने सुधार पर ही निर्भर है। हमारी रक्षा हमारे गुण ही कर सकते है। सोचना यही है कि हम अपना सुधार कैसे बनाये रखें। समाज या सरकार हमारी रक्षा या हमारा ऊपर-२ का सुधार कर सकती है

और शायद कमजोर पड जाय तो न भी कर सके पर बाहर के किसी भी उपाय से हमारा स्थायी सुधार नही हो सकता। हमारा वास्तविक सुधार तभी हो सकता है जब हम न्याय समझने के बाद उस पर डटना सीख लेंगे। यानी अपने मन पर अपना नियत्रण रखना सीख लेगे। यही एकमात्र उपाय है जिस पर हमारी सम्पूर्ण सफलता निर्भर करती है। इस कला मे हमारे लिए निपुण होना अत्यन्त आवश्यक है। मन को अन्याय से रोक कर, न्याय पर लाने के लिए उस पर नियत्रण कायम करना हो तो हमें सात्विक-जीवन का महत्व और अनैतिकता से हानि के सम्बन्ध मे ठीक से समझना चाहिए ताकि सात्विकता में मन की रुचि बन जाय। विचारें—

"हे जीव! इस ससार में बहुत अल्प काल का मेरा निवास है। मैं नही जानता, कब चला जाऊँगा? मेरे साथ एक कौडी चलने वाली नही है। फिर अन्याय किस लिए करू? यदि सोचू—भावी पीढी या समाज वाले तो सुखी होगे, यह भी निरा भ्रम है। प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि जिनके बाप-दादा करोडो रुपये छोड गये उनके वशज आज भीख माग रहे है और देख रहा हूँ—भगवान महावीर, भगवान रामचन्द्र, भगवान कृष्णचन्द्र जैसे महारथियो की समाज को छिन्न-भिन्न अवस्था में। फिर मैं किस खेत की मूली हूँ? अनैतिक प्रयत्नो से थोडी देर के लिए कुछ प्राप्त कर भी लूगा तब भी पाँसा पलटते क्या देर लगेगी? प्रकृति जब चाहे उजाड सकती है। द्वीपो के समुद्र और समुद्रो के द्वीप बनना कुछ क्षणो का मामला है। एक भूकम्प के धक्के से सब धूलि-धूसरित हो सकता है।

"ऐसे नश्वर ससार में फिर अन्याय क्यो करू एव ऐटम तथा हाइड्रोजन बम जैसे घातक अस्त्र बनाकर इस नश्वरता को और तीक्ष्ण क्यो करू? तलवार चमकाता हुआ या बन्दूक ताने रह कर मैं भी सुख की नीद सो नही सकता और जब मेरा जीवन ही शान्तिमय नही हो सका तब ऐसे प्रपचो का मेरे लिए क्या मूल्य? इसका अर्थ कदापि यह नही है कि मुझे, मेरे या किसी दूसरे के लिए, कुछ नही करना है। मेरा तो जीवन ही कार्य करने के लिए है, पर अन्याय के लिए नही।

"मैं अपनी मेहनत पर ही जीऊँ, यही मेरी बहादुरी है। औरो के परिश्रम पर जीना भयकर कमजोरी है। कोई खुशी से भी यदि अपनी मेहनत को मुझे दे तब भी उसे स्वीकार करना मेरे लिए उचित नही। फिर दूसरो की मेहनत को

जबरदस्ती हड़पने की कोशिश करूँ, यह मेरी कितनी नादानी है। बेहतर है इससे मेरा प्राणान्त ही हो जाय।

"माता पिता ने मुझे बडा कर दिया, यह उनका मेरे ऊपर बडा उपकार हुआ है। इससे अधिक मै उनसे और क्या चाहता हूँ ? उचित तो यही है कि इस उपकार का बदला, उनकी बुढापे मे सेवा करके, चुका दूँ। ऐसा न करके उल्टे मै उनसे, तुच्छ स्वार्थ के लिए कलह करूँ, इससे अधिक और क्या मेरी भूल हो सकती है ? मै उनके दुख का कारण बनू यह मेरे लिए अत्यन्त अशोभनीय बात है।

"यदि मेरी आय से दो मनुष्यो का पेट नही भरता तो मुझको विवाह नही करना चाहिए। ऐसा करने से अन्याय का आश्रय लेना पड सकता है जो मेरे लिए आत्म-घात से भी अधिक बुरा होगा। मुझे मेरे बच्चो का लालन-पालन बडी खुशी और न्याय-पूर्वक करना चाहिए। अकारण उनके मन को चोट पहुँचे या उनके मन मे शका पैदा हो ऐसा कोई भी कार्य करना मेरे लिए उचित नही। मुझको वही कार्य करना चाहिए जिससे वे बल और बुद्धि में किसी भी तरह से अयोग्य न रहे। वे तो अबोध है, मेरे आश्रित है। उनकी पूरी जिम्मेवारी मेरे ही ऊपर है। यही मेरी सच्ची सम्पत्ति है जिसे मै भविष्य मे समाज को भेट करने जा रहा हूँ।

"मेरी यह दलील कि मेरी आय कम है, कभी नही सुनी जा सकती। लालन-पालन ठीक से न कर सकने वाले माता-पिता को बच्चे पैदा करने का कोई अधिकार नही। ऐसी स्थिति में मुझे ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए था। बच्चो को अयोग्य रखना समाज को ही नही, समाज की नीव को धक्का पहुँचाना है। ससार मे यदि कोई बडा से बडा पाप है तो वह अपने बच्चे को अयोग्य रखना ही है।

"जब मै मनुष्य हूँ तो मुझे दीन होने की क्या आवश्यकता है ? मै मृत्यु का आलिंगन करना अच्छा समझूगा अपेक्षाकृत इसके कि किसी के आगे जाकर हाथ पसारू। मेरे लिए किसी को कष्ट देना उचित नही है। यदि मेरी स्थिति खराब हो गई है तो सोचना चाहिए कि मेरी ऐसी स्थिति होने का कारण क्या है ? मनुष्य प्राय. तीन तरह से दुखी होता है—स्वकृत, समाजकृत, एव देवकृत।

"स्वकृत, जैसे—कार्य न करना, अधिक खर्च करना, कुव्यसनो में पडना, नियम पूर्वक न रहना, आदि।

"समाजकृत, जैसे—चोरी हो जाना, युद्ध और कलह का हो जाना, उधार डूब जाना, आदि।

"देवकृत, जैसे—आग, भूकम्प, अति वृष्टि, अल्प वृष्टि, रोग, बुढापा, स्वजन की मृत्यु आदि का होना एव कार्य करने की इच्छा और शक्ति के होते हुए भी कार्य का न मिलना।

"पहले कारण के अवसर पर यदि कोई मेरी सहायता करता है तब मैं तो दोषी हूँ ही, वह भी दोषी ठहरता है। ऐसी स्थिति मे किसी को मुझसे बात भी नही करनी चाहिए। चाहे मैं कल मरता होऊँ तो आज ही क्यो न मर जाऊँ। मेरे मर जाने से समाज तो स्वस्थ रहेगा। दूसरे और तीसरे कारण के अवसर पर समाज से सहायता ली जा सकती है और समाज दे भी सकता है।

"दूसरा कारण, समाज की अस्वस्थता का लक्षण है जो समाज के स्वस्थ होने से अपने आप ही मिट जायगा पर तीसरा कारण जो 'देव-कृत' है जिसका सामना करने के लिए हम सब को मिलकर ही रहना चाहिए। हमारी सारी समाज रचना का उद्देश्य भी यही है।

"पहले कारण का पूरा जिम्मेवार मैं हूँ। यदि मैं इसका उचित सुधार नही करता हूँ तो मेरे लिए बडी शर्म की बात है और इसका फल मुझे ही भोगना चाहिए। दूसरे दो कारणो मे भी मुझे उचित सावधानी बरतनी चाहिए। समाज को मेरी सहायता करनी चाहिए, समाज पर ऐसा दबाव नही डाला जा सकता। यह तो समाज की स्वेच्छा पर निर्भर करता है।

"मेरे घर में आग लग गई, मेरा घर बाढ मे बह गया। इसमें समाज का क्या दोष ? मुझे रोग हो गया या मेरा एक स्वजन चल बसा, इसमें समाज क्या करेगा ? अधिक से अधिक समाज मेरे साथ सहानुभूति प्रगट कर सकता है। रोग की पीडा मुझे ही भुगतनी होगी। मृतक स्वजन का वियोग मुझे ही झेलना पडेगा। समाज न तो रोग की पीडा बटा सकता है, न मृतक को ही लौटा सकता है। समाज द्रव्य वस्तुओ की पूर्ति चाहे कर भी दे पर आन्तरिक यन्त्रणाये कोई नही मिटा सकता। इनका सामना तो मुझको अपने आत्म-बल से ही करना

होगा। जब दुःखो का सामना मुझको ही करना है तो बेहतर यही है कि मैं अधिक से अधिक समर्थवान बनू ताकि प्रत्येक सकट का, धैर्य और साहस पूर्वक सामना कर सकूँ।

"ऐसे सकट के समय यदि समाज मेरी सहायता करता है--चाहे वह भौतिक पदार्थो की हो, चाहे आत्मवल को स्थिर रखने के लिए सहानुभूति-पूर्ण राय की--मुझे समाज का बडा उपकार मानना चाहिए। भविष्य में मुझे भी इसी प्रकार समाज सेवा करनी चाहिए और ऐसे ऋण से उऋण होने का बराबर प्रयत्न करना चाहिए। प्राप्त भौतिक सहायता को उधार रूप मे ही समझने मे मेरी वलिहारी है। स्थिति सभलते ही उस सहायता की पाई-पाई मुझको लौटाना है। मुझको सहायता भी उतनी ही अगीकार करनी चाहिए जिससे मेरा काम भर निकल सके। मेरा सच्चा परीक्षा काल यही है। अपने सकटो से लडने का उत्तम से उत्तम उदाहरण मै समाज के सामने रख सकता हूँ। कष्टो से लडते-२ यदि मेरा अन्त हो गया तब भी समाज मेरे लिए गौरव का ही अनुभव करेगा। जैसा कि आज भी वह पुनिया-श्रावक के लिए अनुभव करता है। वह महाभाग्यवान पुरुष एक समय स्वय खाता और दूसरे समय अपनी स्त्री को खिलाता। भाग्य से कोई मेहमान आ जाता तो दोनो में से एक उपवास कर लेता। क्या उस समय सेठ साहुकार वसते नही थे? क्या ऐसी महान् आत्माओ को कोई सहायता नही मिल सकती थी? पर बात ऐसी नही थी। उसका प्रण था--जितना वह स्वय न्याय-पूर्ण उपार्जन करेगा, उसी पर सतोष पूर्वक अपना निर्वाह करेगा। वह जानता था कि देना 'धर्म' है और लेना--विना परिश्रम का--पाप है।

"आज, मै अन्य की सम्पत्ति देख कर जलता हूँ। मुझे सोचना चाहिए कि इन धनवानों ने मेरा क्या बिगाडा है? यदि ये धनवान धन के दुरुपयोग से मेरे प्रति अन्याय न करे तो कोई कारण नही कि मै इनसे घृणा या ईर्ष्या करूँ। धन सारा यही रह जाने वाला है। फूटी कौडी भी साथ में जाने वाली नही है। अधिक धन हो जाने से वे सोना चादी तो खायेगे नही। धन के मद मे उन्हे न पूरा धान पचता है और न पूरी नीद ही आती है। इस अपेक्षा से वे बेचारे मेरे से भी अधिक दुःखी है। उन्हें अपने धन की रक्षा की भी बडी चिन्ता है। उन्होने मेरी गाठ नही काटी है। कल मै भी धनवान हो सकता हूँ। यदि ऐसी स्थिति

में कोई मुझसे ईर्ष्या करेंगे तो उनका ऐसा करना क्या उचित होगा ? उन्होने वडी मेहनत की है। कम में काम चला कर इसका सग्रह किया है। ऐसी पद्धति मुझे भी सीखनी चाहिए। अपने भविष्य के लिए, अपने असमय के लिए कुछ वचाना, ऐसी सग्रह वृत्ति वुरी नही कही जा सकती।

"यदि मै धनवान हूँ तो क्या हो गया ? आखिर हूँ तो मनुष्य का मनुष्य ही। यह धन मेरी कहाँ तक रक्षा करेगा ? अन्त में मुझे यह छोडना पडेगा। तव इससे अधिक ममत्व रखना नादानी नही तो और क्या है ? धन पाकर मेरा अन्याय या अभिमान करना कभी उचित नही ठहरता। यदि मै अपने से गरीवो पर अन्याय करता हूँ तो मुझ से अधिक धनवान मुझे भी दवा सकते है। धन आज है, कल न रहा तो मेरी क्या हालत होगी ? धन पाकर जो मै विषय-सुखो की तरफ झुक रहा हूँ और कमजोर होकर समाज को अन्दर ही अन्दर खोखली वना रहा हूँ क्या इसीलिए मैने अपना पसीना वहाया है ? इससे अच्छा होता मै गरीव रहता। धन निश्चय मेरा परिश्रम है, पर इस परिश्रम का उचित उपयोग मुझको समझना चाहिए। धन पाकर मेरा मन अधिक चचल हो गया है। धन के नशे मे मेरा आत्मवल कमजोर पडता जा रहा है और मै अवगुण और विषयो का कायल होता जा रहा हूँ यानी मेरे ऊपर दोनो तरफ से हमला हो गया है। एक तरफ मन की चचलता वढ रही है और दूसरी तरफ इसे सभाल कर रखने वाला आत्मवल घट रहा है। यदि मै नही सभला तो मेरा पतन सन्निकट है।

"समय रहते मुझको सभल जाना उचित है। सभलने का अर्थ यही है कि इस धन का उपयोग अपनी या अपने भाइयो की आपदाओ से लडने, आत्म-उत्थान एव वल, वुद्धि के विकास में ही मुझे लगाना है। इसे विषय-वासना की वृद्धि का कारण कभी नही वनने दूगा ऐसा मुझे निश्चय करना चाहिए। यदि मैने ऐसा किया तो दूसरे अल्पज्ञ भी मेरे से ईर्ष्या नही करेंगे। मै हर वात में होशियार वनू यह ठीक है पर मेरे को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि होशियार वह नहीं जो धोखा करना जानता है, वल्कि होशियार वह है जो धोखे से वचना जानता है।"

इस तरह का चिंतन हमारे गिरते हुए मन को वचाने के लिए एक अच्छा सहारा हो सकता है।

एक मनुष्य का स्वजन मर जाता है, छाती पीट-२ कर रोता है। एक दूसरे व्यक्ति को वैसे ही स्वजन के निधन पर बडा धैर्य रखते देखते है। क्या फर्क है ? एक अपने मन को समझा नही जानता पर दूसरा जानता है। वह यही सोचता है–"आना-जाना तो ससार का एक खेल है। जब बात मेरे पुरुषार्थ के बाहर हो गई फिर उसके लिए अफसोस करने से क्या लाभ ? अब चीज मिलने वाली है नही। आज नही तो कल, धैर्य धारण करना ही होगा।" एक ही दु ख को ज्ञानी, ज्ञान द्वारा हल्का कर लेते है। इस प्रकार की प्रणाली को अपनाते-२ हम एक दिन इतने चतुर हो जाते है कि दु ख को भी सुख मे परिणत कर लेते है। भारत का यही महान् विज्ञान है। मिट्टी से सोना हमारे पूर्वज इसी तरह बनाते थे।

भारत अपनी जनसख्या के लिए उतना महान् नही था, अपनी उपजाऊ धरती एव समृद्धि के लिए महान् नही था, अपितु अपने निर्मल मनोविज्ञान एव सस्कृति के लिए महान् था। आज ससार भारत को गरीब समझता है और वास्तव में हम गरीब हो गये हैं क्योकि हम में आत्म-बल की मात्रा पहले जितनी नही रही। पर ससार जिस दृष्टिकोण से हमे गरीब समझ रहा है उस दृष्टिकोण से हम रत्ती भर भी गरीब नही है। वे हमे इसलिए गरीब समझते हैं कि हम उनके पास बार-२ अन्न और दूसरी सहायता मागने जाते हैं तथा हम वर्षो तक गुलाम रह चुके है। हमें इसलिए गरीब समझते है कि हम भौतिक पदार्थो को उनकी तरह बटोरना नही जानते, उनके जैसी तडक-भडक का हमारा रहन-सहन नही है और दूसरो के प्राण लेने मे हम प्रवीण नही हैं। ससार कुछ भी समझे पर हमे अपने गत गौरव को फिर से लौटाना है।

आज हम संसार को आगे बढा हुआ मानते है और उनका अनुकरण करना चाहते है। पर यह हमारी नितान्त भूल है। ससार जिस रास्ते पर चल रहा है वह सही नही है। विषय भोगो की सामग्री को बढा-२ कर ससार कमजोर, पराधीन, ईर्ष्यालु, और झगडालु बनता जा रहा है। भारत ऐसी पराधीनता और जडता को कभी स्वीकार नही कर सकता। उसे अपने पूर्वजो की तरह सात्विकता पूर्वक स्वावलम्बी बन कर जीना है। अधिक उत्पन्न करना सीखना बहुत अच्छा है पर कम वस्तुओ पर अपना निर्वाह करना सीखना

कही उससे ज्यादा अच्छा है। अधिक उपज के लिए बाव बनाया, बाध फट गया, अतिवृष्टि हो गई या अनावृष्टि रह गई। अधिक उपजाना मनुष्य के उतना हाथ नही है जितना कम वस्तुओ से काम चला लेना।

किसी भी देश के ज्ञान से हमे घृणा नही करनी चाहिए। वस्तुओ में अनन्त गुण भरे पडे हैं। यदि दूसरो को हम से अधिक जानकारी प्राप्त हो तो उनका अनुकरण करना या उनसे उस ज्ञान की जानकारी प्राप्त करना हमारा कर्तव्य है। पर इसका मतलव यह नही है कि हम दूसरो की वुराइयो का अनुकरण करना शुरु कर दे। ऐशो-आराम और जीवन निर्वाह के अन्तर को समझते हुए हमे कार्य करना है। आज के उन्नतिशील देशो की तरह हमें ऐशोआराम की तरफ कदम नही वढाना है। ऐशोआराम ही झगडे और पतन का मूल कारण है। इसने ही हमे पागल और घायल वना रखा है।

हफ्ते में एक दिन व्रत रख लेना हमारे लिए वडी वात नही। पूरे कमीज की जगह यदि हाफ (अर्व) कमीज पहन ले तो मजे मे काम चल सकता है। यदि एक मनुप्य एक वर्प में तीन गज कपडा और आधा मन धान वचा सकता है तो समझ कर देखिये कि देश ने सरलता पूर्वक कितना पैदा कर लिया यानी चालीस करोड के देश मे एक अरव वीस करोड गज कपड़ा और वीस करोड मन धान की उत्पत्ति अधिक हो गई। यह एक नमूने के तौर पर विचारा है और भी हम अनेक तरह ने किफायत कर सकते है, जैसे नीरोग रहने के सही आचरण अपना कर अधिक कार्य कर सकेगे और औपधियो के दाम भी वचा लेंगे। महान् ब्रह्मचर्यव्रत को अपनाकर अपनी अनन्त शक्ति को वचा लेगे। हमे ससार को समझा देना है कि हम गरीव नहीं हैं। जो अल्प से अल्प पर जीना जानते हैं क्या वे गरीव है? जो अभिमान रहित सादगी से जीना जानते हैं वे कैसे गरीव हो सकते है? जो अपने सकटो का शान्ति पूर्वक सामना कर सकते हैं वे गरीव नही हो सकते। जो दु ख को भी सुख में परिणत करना जानते हैं उन्हें कौन गरीव वना सकता है? हमे तो अधिक से अधिक स्वावलम्वी बनना है। अन्य अच्छे प्रयत्नो का सहारा लेते हुए महान् खूवी के साथ कम-से-कम वस्तुओ पर निर्वाह करना सीखेगे, साथ ही अधिक से अधिक वस्तुओ का उत्पादन करना भी। दोनो तरफ से हम अपनी

प्रगति जारी रखेंगे। धोती और चद्दर में रह कर ही जब पूज्य बापूजी विश्ववंद्य हो गये फिर हमें किस बात की अधिक भूख है ?

पहाड पर रहनेवाला व्यक्ति अधिक स्वस्थ और स्वावलम्बी होता है। कष्ट के समय वह बडी हिम्मत रखता है। फिर भी हमे मैदान में रहने वाला व्यक्ति ही अधिक प्रगतिशील लगता है। यह क्यो ? शायद इसलिये कि हम खुद मैदान के रहने वाले है। हम बिजली, रेल, मोटर आदि का प्रयोग करते है, हमारे पास उपजाऊ धरती और अधिक समृद्धि है। शायद इसलिए भी कि हम अधिक चालाक और बुद्धिमान हैं।

तथ्य यह है कि पहाडी लोगो को वस्तुओ की प्राप्ति ही इतनी कम होती है कि इच्छा न होते हुए भी उन्हें उतने में ही काम चलाना पडता है। जैसे एक राजस्थानी एक बगाली की अपेक्षा बहुत कम जल से अपना काम भली प्रकार चला लेता है। पर यह कम मे काम चला लेना उसने खुशी से स्वीकार नही किया है। राजस्थान मे जल की कमी के कारण ही उसको स्वत ऐसा अभ्यासी बनने के लिये मजबूर होना पडा है। वही राजस्थानी व्यक्ति यदि बगाल में रहने लग जाय तो अधिक जल का उपयोग शुरू कर देता है और पहले (राजस्थान मे रहने) की तरह कभी जल की किफायत की तरफ ध्यान नही देता। इसी तरह पहाडी लोगो का, 'कम द्रव्यो से काम चला लेना' कोई समझदारी से उत्पन्न हुआ गुण नही है। जब भी उन्हे अधिक वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है, हमारी तरह वे भी उनका अधिक उपयोग लेने लगते है। विशेपता तो इसमे है कि द्रव्य सामग्री के प्रचुर मात्रा मे विद्यमान रहने पर भी अपना जीवन खुशी से अति कम द्रव्यो से यापन कर लेते हो।

वस्तुओ की कमी के समय, 'कम से' काम चला लेना अवश्य एक गुण है क्यो कि जहाँ राजस्थान मे रहने वाला, बगाल मे भी आराम से रह सकता है—वहाँ बगाल में रहने वाला, राजस्थान मे जाकर कष्ट अनुभव करता है। पर वस्तुओ की अधिकता होने पर भी, 'कम से' काम चला लेना एक अधिक महत्व की बात है। यही मन पर विजय कहलाती है और ऐसे ही पुरुष 'सक्षम' पुरुष कहे जाते है।

स्वेच्छा से पदार्थो पर कम आश्रित रहना ही वास्तविक गुण है। दवाव या अभाव में कम द्रव्यो का उपयोग हमारी आश्रिता पर विजय नही मानी जा सकती।

सामाजिक दवाव से ईर्ष्या और द्वेष के कारणों को कम करने की वहुत चेष्टा की जाती है पर उसमें स्थायी सफलता प्राप्त नही होती। ससार के कुछ देशों को जिनमें एक रूस भी है ऐसा लगा है कि यह भौतिक सम्पत्ति ही हमारे मे ईर्ष्या और द्वेष का कारण वनती रहती है इसलिए अच्छा यही है कि सभी की सम्पत्ति मिला कर एक सम्मिलित सम्पत्ति मान ली जाय और भविष्य में जो कुछ वचत हो उसका समाज ही मालिक हो। इस तरह कलह का कारण ही नष्ट हो जायेगा।

कठिनाई यह है कि हम समस्त कारणों को शेष नही कर सकते और जैसे ही कोई कारण उत्पन्न हुआ कि अवगुणों को हमारे मे प्रज्वलित होते देर नही लगती क्योंकि हमने अपना मुख्य वचाव नही सीखा। समस्या का यह स्थायी हल नही है। इस सम्वन्ध मे एक घटना का उल्लेख आवश्यक है—

"किसी राजकुमार के पैर में काटा चुभने से सयोगवश पक कर उसमें मवाद पड गया। राजकुमार के कष्ट को देख कर राजा को काटे पर वडा गुस्सा आया। उन्होंने आज्ञा दी—'सव काटों को नष्ट कर डालो। ऐसे वृक्षो को भी नष्ट कर डालो जो काटें फैलाते हैं।' राजा की आज्ञा थी। वैसा ही किया गया। कुछ दिनो तक तो शान्ति रही। पर काटो के वृक्ष फिर उगने लगे। काटो को नष्ट करने का पहले का अथक परिश्रम सव निष्फल गया। राजा ने मत्री से कहा कि काटे उत्पन्न न हों—इसका सही और स्थायी रास्ता निकालो। मन्त्री वुद्धिमान था, कहा—'महाराज, काटों की उत्पत्ति नही रोकी जा सकती। आप चाहें तो काटो से वचने का उपाय ढूंढा जा सकता है।' महाराज ने कहा कि अपने को और चाहिए ही क्या। तव मन्त्री ने एक जूते की जोडी वना कर महाराज के सामने रखी और कहा—'राजन्! यह राजकुमार के पैरो मे पहना दीजिये। अव काटे उनका कुछ नही विगाड सकेंगे।"

'कारण', जव तक ससार है, तव तक कम या ज्यादा काटो की तरह पनपते ही रहेंगे। हम हमारे मन को ही यदि 'शुद्ध विचार" रूपी कवच पहना सके, तो वचाव हो सकता है। रूपवान स्त्री को देखकर हमारे मन मे काम का विकार उत्पन्न हो जाया करता है। क्या मन के विकारो को रोकने के लिये उनके मुख पर कालो पोत देने का उपाय सोचे ? क्या यह उचित और स्थायी उपाय है ? क्या यह समस्या का सच्चा हल है ?

यदि कोई रूपवान स्त्री को देखकर, विचलित हो जाने वाले मन को बचाने में अपने को सब तरह से असमर्थ पाकर, अपने बचाव के लिए अपनी आँखें ही फोड ले तो हो सकता है इस उपाय को उसके अपने तक सीमित होने के कारण या दूसरो के साथ अनुचित व्यवहार नही होने के कारण या पहले उपाय की अपेक्षा अधिक लाभप्रद होने के कारण, कुछ अच्छा मान ले पर यह उपाय भी पूर्ण उचित उपाय नही कहा जा सकता। क्योंकि एक बुराई को रोकने मे उसे प्राप्त होने वाली बहुत सी अच्छाइयो से भी हाथ धोना पड रहा है। तब उचित उपाय क्या हो सकता है ? इसका एक मात्र उत्तर है—"हमारे मन पर हमारा नियत्रण"।

इसलिए कारणो को नष्ट करने के उपाय को पूर्ण विश्वसनीय नही कहा जा सकता। ऐसे उपाय को काम मे लेने के बाद भी क्या हम कह सकते हैं कि रूसवाले राग और द्वेष से रहित हो गये ? क्या आज वे सब समान हैं ? यह तो धधकती आग पर थोडे समय के लिए एक परत मात्र है। ज्योंही परत हटी कि विकराल अग्नि मुंह खोले हमे भस्मीभूत करने को तैयार मिलती है। जब हम जन्म से ही असमानता को साथ लेकर आते है फिर यह असमानता तो रहेगी। कोई लम्बा होगा, कोई मोटा होगा, कोई अधिक बुद्धि वाला होगा और कोई अधिक ताकत वाला होगा। यदि कहे—"जिस असमानता को नही मिटा सकते उसकी बात क्यो करे, जिसको मिटा सकते हैं उसे क्यो रहने दे ? विशेष कर हमारा झगडा, भौतिक पदार्थों के लिए ही होता है इसलिए इतनी समानता को ही बनाये रक्खे तो क्या बुरा है ?" पर यह इस अस्थिर जीवन में सम्भव नही दीखता। कइयो ने यहाँ तक सोचा और किया—

"सब भाई एक कुटुम्ब की तरह रहें, काम करें और अपनी आवश्यकतानुसार पदार्थ लेते जाँय, और आनन्द से जीवन निर्वाह करते चले। न सग्रह का भाव रक्खें न एक दूसरे को नीचा दिखाने का।"

कितना सुन्दर आदर्श है ? पर यहाँ भी अनैतिकता और अकर्मण्यता पनप आती है। बहुत से सोच लेते हैं—"कडी मेहनत की क्या आवश्यकता है ? जितना चाहिए उतना तो कम परिश्रम से ही मिल जायेगा, फिर आपाधापी क्यो ? यानी इस तरह देखा-देखी स्वार्थ-परायणता और अकर्मण्यता धीरे-२ बढने लगती है और सारा ढाँचा बिगड कर अवनति शुरू हो जाती है।

माना आपने अथक परिश्रम से सब को समान कर दिया पर क्या वह समानता स्थिर रह सकेगी ? एक उदाहरण लें—

"एक पिता ने चारो पुत्रो को, अपनी सपत्ति का एक समान बटवारा कर दिया। इतना करने पर भी थोडे वर्षो बाद ही उनमे बडी असमानता आ गई। पहले के चार लडके हुए, बडे होकर कार्य मे सहारा देने लगे और बडी उन्नति कर ली। दूसरे के सात लडकियाँ हुई और उसे सहारा न मिलने से वह जैसा था वैसा ही रहा। तीसरा स्वास्थ्य ठीक न रहने से कार्य ही न कर सका और पहले से अधिक कमजोर पड गया। चौथे ने कुव्यसनो मे पड कर अपने धन को तो बर्बाद किया ही, ऊपर से ऋणी भी बन बैठा।"

जिस समानता के लाने के लिए आप जो अथक परिश्रम कर रहे है या लाने की सोच रहे है या उसे महान् उपयोगी समझ रहे हैं या समस्या के हल का सच्चा उपाय समझ रहे है, ले आने पर भी उसमे स्थायित्व है ?

काटे कम पैदा हो, रास्ते में न बिखरें यह ध्यान जरूर रखे, पर जूतो का उपयोग निश्चिन्तता प्रदान करता है। असमानता को न देखने की जो कमजोरी हमारे में है उसे मिटाने की कोशिश हमे जरूर करनी चाहिए। यदि यह कमजोरी बनी रही तो अन्य न मिटने वाले कारणो के सामने हमें हार खानी होगी। फिर हम प्रधान मत्री के मत्रीत्व में और कुली के कुलीत्व में जो गहरी असमानता है, उसे कैसे देख सकेंगे ? दुर्भाग्यवश यदि कलह हो जाता है तो पहले के प्रयत्नो पर पाला पड जायेगा या नही ? व्यावहारिक असमानता तो हर क्षेत्र में रहेगी कारण हमारा जन्म ही असमानता को लेकर होता है। इसे मिटाने का एक ही उपाय है कि इसे हम अपने मन में न खटकने दें। हम अपने मन पर पूरा नियत्रण कायम रखे। अपने दुख को दुख और सुख को सुख न समझें। भावना को सम बनावे। समान होने का यही स्थायी हल है। अन्यथा ससार का कोई उपाय हमें समान नहीं कर सकता।

यह निश्चित है कि अपने क्षेत्र मे 'समाज का अकुश' अपना पूर्ण प्रभाव रखता और अनेक अश में हमारा गहरा उपकार करता है पर इसकी भी एक सीमा है। हमारे मन पर स्थायी, सच्चा और पूर्ण नियत्रण तो हमारा अपना अकुश ही रख सकता है। तब हमारे सामने एक ही रास्ता रहा—"अपने मन को सभाल कर सही रास्ते पर चलाना।"

मन की विचित्र गति को देख कर हम दग रह जाते है। कभी-२ उसके हाव-भाव से हमे ऐसा लगता है कि अब यह विल्कुल सीधा हो गया है और कही नही भागेगा। फिर उसी मन को ऐसा सपाटा भरते देखते हैं कि हाथ ही नही आता यहा मन अपने ही वश में न रहे इससे ज्यादा और क्या हमारी कमजोरी हो सकती है ?

हमे यह समझ कर भी हिम्मत नही हारनी चाहिए कि जब हम से भी अधिक शक्तिशाली पुरुषो को अथक परिश्रम करने पर भी पूरी सफलता जल्दी से नही मिलती तो हम इतनी जल्दी सफलता की आशा कैसे करते है हालाकि यह कोई राशन का क्यू (कतार) नही है कि आगे वाले को मिलने पर ही पीछे वाले की बारी आयेगी।

मन की कमजोरी को मिटा डालना अति दुष्कर कार्य है। इसका एक ही उपाय है कि यह जब-२ गिरे इसे ऊँचा उठाने की चेष्टा रखें। यह चेष्टा हमें सीखनी पड़ती है जो एक शतरज के खेल के समान है। शतरज के खेल की चाले सीख लेने के बाद भी चतुर खिलाडी हम तभी बन सकते है जब बार-बार अभ्यास करते रहे। चतुर खिलाड़ियो के खेल को देख कर भी हम अच्छे खिलाडी बन सकते हैं। यहाँ भी हमे पक्का खिलाड़ी बनना है। हमें अपने मन को वश मे रखने का खेल सीखना है। अन्याय की बात छोडिये, जरा-सी भूल के लिए हमें क्रोध आ जाता है। मामूली लोभ मे आकर दूसरे का अनिष्ट कर बैठते हैं। साठ-२ वर्ष तपस्या मे तपे बडे-२ मुनिराज तक के मन का कर्म-संयोग से पतन हो जाता है। फिर गृहस्थी एव नवयुवको के सम्बन्ध मे क्या कहा जाय ? उनका मन तो सब तरह का ऐशो आराम और सुख-सुविधा चाहता ही है। ऐसे समय, इतने चंचल मन को वश मे रखना हँसी खेल नही। इसमें बहुत अधिक विवेक और परिश्रम की आवश्यकता है। इसलिये ऐसे चचल मन को वश मे रखने के लिए महापुरुषो ने अनेक प्रकार के अवलम्बन बताये हैं।

यह कार्य शायद सबसे अधिक कठिन है। इसलिए हमें अपना अथक परिश्रम जीवन पर्यन्त निरंतर चालू रखना होगा। इसमें मन को जरा भी ढीला नही छोड़ सकते। सफलता हमारे निरतर अभ्यास पर ही निर्भर है। ऐसे अभ्यास को हम "धार्मिक आचरण" के नाम से पुकारते हैं।

कइयो के मन में शका उत्पन्न हो सकती है कि इस तरह का आचरण अपनाने से हमें ससार के हर कार्य में अरुचि उत्पन्न हो जायेगी। हमारा जीवन नीरस और अकर्मण्य वन जायेगा। इसी चिन्ता में, 'क्या जाने कव मर जाऊँगा, या मुझको रहना नही है' हमारा दिल पहले ही वैठ जायेगा और किसी भी कार्य को करने का मन नही होगा और हम अमूल्य जीवन को ही निकम्मा वना वैठेंगे। फिर इस तरह के पुरुषार्थहीन जीवन से क्या लाभ ?

भविष्य मे हमारा क्या होगा यह कोई नही कह सकता। इस प्रकार का चिन्तन हमें अकर्मण्य वना देगा, यह निरा भ्रम है। सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये ही हम भाग-दौड करते है। उसी के लिए हम कुछ करना चाहते है। यदि विना ऐसे द्रव्यो के उससे भी अच्छा सुख मिल जाय, तो आपको क्या एतराज है ? आप कहेंगे-"असम्भव", मै कहूँगा-"सम्भव"। चूकि इस वहस की लम्वाई का अत नही है इसलिए थोडे मे ही विचारें कि रेशम छोड कर खादी धारण करने वाले काग्रेसजनो को रेशम छोडने का क्या कोई दुःख है ? यदि कुछ नही तो जो रेशम ही मे, सुख समझ वैठा है उसको कैसे समझावें कि यह असली सुख नही है। वडप्पन दिखाने के सिवाय और आप भी रेशम मे क्या सुख समझते है ? समझ का फरक इतना ही है कि कई सुख ऐशो आराम में मानते हैं और ज्ञानी ऐशो आराम से हटने को मानते है। धर्म हमें अकर्मण्य नही वनाता वल्कि एक क्षण भी व्यर्थ न खोने की चेतावनी देता है। वीतराग फरमाते हैं—"समय गोयम ! मा पमाइये"– गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न कर।

धर्म सही दिशा को समझा कर हमें लक्ष्य की तरफ वढने मे वडी सहायता पहुँचाता है। यदि वह हमारे जीवन को न्यायी, स्वस्थ, सवल, स्वावलम्वी और चिन्ता रहित वना दे तो इससे अधिक और मनुष्य के लिए क्या अच्छा हो सकता है ? भेपधारी ढोगी साधुओ की भिक्षावृत्ति देख कर ही हमें धर्म का मूल्याकन नही कर लेना चाहिए। धर्म की गहराई वहुत ही अधिक है। इसे सहज ही मापना सभव नही है।

जैनियो ने अध्यात्मवाद को धर्म का शिखर स्वरूप अवश्य माना है पर अन्य सभी क्षेत्रो मे 'अपनी जिम्मेवारी को पूरी तरह समझाने वाला "धर्म" ही है', यह भी पूर्णतया स्वीकार किया है। माता-पिता और वाल-वच्चो की मरजी के विना

कोई भी व्यक्ति अध्यात्मवाद की तरफ झुक नही सकता हालाकि यह पूर्ण रूपेण उसी से सम्वन्धित विषय है। ससार की सारी जिम्मेवारी को समेट कर, ससार के कार्यो से विमुक्त हो, अध्यात्म-मार्ग ग्रहण भी कर ले तब भी उसे समाज पर भार वन कर जीने का अधिकार नही है। हर समय उसमे अपना कायोत्सर्ग करने का आत्मवल जरूर होना चाहिए। समाज की सहायता, वह तभी ले सकता है जब समाज स्वेच्छा से सहायता देने को राजी हो। असल मे यह पवित्र सहायता भी वह मुफ्त ग्रहण करना नही चाहता।

यदि मै किसी प्रकार से समाज पर भार का कारण न वनू और उल्टे समाज को लाभ पहुँचाता हुआ समाज की सेवा करू तो क्या कोई मेरे ऐसे रास्ते को भी गलत समझेगा ? क्या फिर भी ससार मे मेरा जीना किसी को अखरेगा ? फिर दूसरे कौन-से चार चाँद लगा लेते हैं ?

आप ईश्वर न मानें, स्वर्ग न मानें, नरक न माने, परलोक न मानें, मोक्ष न माने और धर्म-पाप आदि भी न माने तो कोई बात नही। हम भी इसके लिए आप पर दवाव नही दे सकते क्योकि हमारे पास भी ऐसे साधन नही है जिससे प्रत्यक्ष इन सब के सम्वन्ध में कुछ सिद्ध करके दिखाया जा सके। हमारी मान्यता भी मान लेनें तक ही सीमित है। पर आप यह तो मानते हैं—"आप का कुछ अस्तित्व है। अन्य छोटे-मोटे सुखी, दु खी प्राणी आपके साथ इसी धरती पर है। कलह, स्वजन के निधन या रोगादिक अन्य कारणो से मन को ठेस लगती है; और आपस मे प्रेम, शान्ति और सहयोग रहने से मन में प्रसन्नता रहती है।" आपसे एक ही प्रश्न पूछना है,—"आप इस तरह की ठेस को पसन्द करते हैं या मन की प्रसन्नता को ?" नि'सकोच कहा जा सकता है कि आप भी मन की प्रसन्नता ही चाहते है। अब खूब ठडे दिल से सोच कर हमे ऐसा उपाय वतला दें जिससे हममे कलह न हो और खूव प्रेम रहे। यदि इतना वतला देंगे तो हमे आपको गुरु मानने में कोई आपत्ति नही।

जो भी उपाय आप वतलायेंगे, आप आश्चर्य करेगे' कि उनमें और हमारे धार्मिक आचरणो मे कुछ भी अन्तर नही है। हम इन्ही उपायो को 'धर्म' के नाम से पुकारते है। आपको धर्म के नाम से यदि चिढ है तो आपको उनके लिए एक कोई नया नाम और गढना होग । जैसे कोई इन्हें 'नियम' कहते हैं, कोई 'कानून'

कहते हैं, कोई कुछ और कोई कुछ। आखिर हैं सव एक। विना कुछ व्यवहारो को अपनाये, हम में प्रेम रह नही सकता, हमारा कलह मिट नही सकता।

कानून और धर्म में कोई खास अन्तर नही होता। एक सामाजिक नियत्रण के अन्तर्गत है और दूसरा स्व-नियत्रण। है दोनो ही मन पर नियत्रण लाने के आधार। कानून का सुधार 'दवाव' से और धर्म का सुधार 'भाव' से सम्बन्धित होता है। धर्म का अर्थ है—"हमारे मन पर हमारा नियत्रण। हमारे सुधार के हम रखवाले, हम जिम्मेवार।"

कानून और धर्म में कुछ अन्तर हो अथवा न हो, अपने-२ स्थान पर दोनो उपयोगी है। एक हमारी अवोध अवस्था में काम करता है तो दूसरा हमारी ज्ञान-अवस्था मे। यह तो मानी हुई वात है कि हर प्राणी को दोनो अवस्थाओ से होकर गुजरना पडता है इसलिए हमें विवेक पूर्वक दोनो का ही सम्मान रखना पडता है।

कई धर्म का उल्टा अर्थ समझ, गलत धारणा वना लेते है। उनका कहना है—

"धर्म एक थोथी वकवास है। प्रथम तो ऐसे आदर्शो पर हमारा दृढ रहना ही असम्भव, यदि दृढ रह जाँय तो भी पेट का प्रश्न इससे हल होने का नही है।" परिश्रम करने वाले देशो को देखिये कैसी उन्नति कर ली है। इसलिए अच्छा यही है कि हम अपनी आवश्यकता को समझते हुए सही परिश्रम को ही अपनावे।'

धर्म पर वहुतो को दृढ रहते न देख या द्रव्य वस्तु की प्राप्ति न जान, निराश होने वाले मेरे वन्धु! किसी भी निर्णय के पहले हमे अपने, 'लाभ या हानि', दोनो ही पर हर दृष्टि से विचार कर लेना अति आवश्यक है। कई प्रयास प्रत्यक्ष लाभ या हानि पहुँचाते है तो कई अप्रत्यक्ष रूप से। वैसे ही हानि का रुकना भी हमारे लिए एक अपेक्षा से लाभप्रद ही है।

माना कि पेट का प्रश्न हमारे जीवन का सवसे पहला और गुरुतर प्रश्न है और यह भी मानते है कि धर्म के प्रभाव से इस प्रश्न को हम चाहे जितना सकुचित या सीमित कर डालें, फिर भी कुछ-न-कुछ हमारे लिए यह वना रह ही जायेगा। जव इस 'कुछ' के लिए ही हमें कुछ ऐसे परिश्रम की आवश्यकता है

जिसे सम्भवतः एक अपेक्षा से हम धर्म का क्षेत्र न भी माने, पर विश्वास रखिये भेद-विभेद से माना गया कैसा भी उच्च धर्म ऐसे परिश्रम का, उपयुक्त क्षेत्र और अवसर पर, कभी विरोध नही करता। फिर ऐसे प्रतिद्वन्दिता के युग मे, जब कि सभल कर न चलने के कारण हमारे ऊपर भूखो मरने की आशका बनती दीखती हो और जिसके आ जाने पर हमारा ज्ञान, ध्यान और अस्तित्व ही खतरे मे पड जाता हो, तो कोई भी धर्म ऐसा परिश्रम करने से हमे कैसे रोक सकता है ? यह तो एक मिथ्या आरोप या समझ है। धर्म हमे कार्य करने की महान् प्रेरणा देता हुआ हानि से रक्षा करना सिखाता है कि जिससे दुख तो हमारे पास कभी फटक ही न सके।

आजके इस ससार पर दृष्टि डालिये। यदि कोई खतरा है तो मनुष्यको मनुष्य से ही। जहाँ सहयोग प्रदान कर कष्ट निवारण में हमें एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए वहाँ लड-झगड कर उल्टे एक दूसरे को हानि पहुँचाना—यह है आज की हमारी दिनचर्य्या। अस्त्रो-शस्त्रो पर जो हमारा परिश्रम बहाया जा रहा है, क्या वह उचित है ? बडे-२ देश जिन्होने ये भडार भर रखे है क्या पूर्ण निश्चिन्त हैं ? यदि आपस मे टकरा गये तो ? क्या यह आने वाले प्रलय की सूचना नही है ? यदि दशा निराशाजनक है तो किस आशा से हम यह दौड अधिक लगाने की सोच रहे है ? यह हमारा सृजन है या विनाश ? तय करे कि हम अपना परिश्रम, सृजन में लगाना चाहते है या विनाश में ? तब ऐसे परिश्रम का क्या मूल्य जिससे हमे अपने जीवन में शान्ति ही प्राप्त न हो सके। फिर हमारी यह दौड़-धूप किस काम की ? यह पेट भरना है या अशान्ति की पिटारी भरना ?

पेट के प्रश्न के बहाने विषयो के पोषण में अपना सर्वस्व होम डालना मनुष्य-जन्म की सार्थकता नही मानी जा सकती। पदार्थो पर आश्रित विषय सुखो में हमारी विनाश लीला या पराधीनता ही छिपी रहती है। आत्मिक-सुख तो 'शान्ति' मे है जो एक मात्र हमे धर्म ही प्रदान कर सकता है।

अस्तु, हो सकता है इस प्रयत्न से आपको आर्थिक लाभ न दिखाई दे या जीवनोपयोगी पदार्थो की प्राप्ति न हो सके पर यदि इनके व्यर्थ नष्ट होने से रक्षा ही की जा सके तो विचारिये, वह लाभ हुआ या नही ? आपको रोटी की इसीलिए चिन्ता होती है कि आपको भूख लगती है। आपको आमदनी

की इसीलिए कोशिश करनी पडती है कि आपके खर्च बधा हुआ है। आज कोई आपको आय का रास्ता बतलाता है तो वह बहुत ही प्यारा लगता है पर ध्यान रखिये खर्च को कम करने का रास्ता बतलाने वाला भी उससे कम नही, अधिक हितकारी है क्योकि उपार्जन तो आप कर सके या न भी कर सके पर खर्च पर काबू पाना तो आपके हाथ में ही होता है। जैसे, अन्न का पैदा होना थोडा-बहुत प्रकृति पर भी निर्भर करता है पर तपस्या करके अन्न का बचाव तो हम निश्चय ही कर सकते है। आवश्यकता है केवल अपने अनुभव और अभ्यास की। इसलिये ये सब अवलम्बन या आदर्श अप्रत्यक्ष रूप मे हमारा बडा उपकार करते है।

एक युद्ध टल जाता है तो अरबो, खरबो की सम्पत्ति का बचाव हो जाता है। आज भारत और चीन ने लडकर कितने अरबो पर पानी फेर दिया ? क्या यह प्रकृति प्रकोप था या हमारी नादानी ? दोष भारत का था या चीन का ? 'धर्म' को विनाश की जड समझकर छोडने वाले चीनने कैसा नमूना पेश किया और कर रहा है ? 'धर्म' यानी शुद्ध विचार यह घाटा रुकवा दे तो लाभ मानेगे या नही ? आमदनी ! आमदनी ! पुकारते है घाटे पर भी ध्यान दें। उपार्जन से भी अधिक महत्वपूर्ण है—'क्षय होने से बचाना।' धर्म की यही अप्रत्यक्ष सेवा है।

"धर्म हमें क्या दे सकता है ? 'धर्म' मे रोटी का प्रश्न हल नही हो सकता। 'धर्म' ने हमें बर्बाद कर दिया। 'धर्म' ही हमारे झगडो का मूल है। 'धर्म' हमें कमजोर बनाता है इत्यादि-२" हम कह सकते है पर धर्म की वास्तविक गहराई को तो कभी हमने समझने की कोशिश ही नही की।

धर्म को पूरा न अपना पाते हो तब भी घबडाने की कोई बात नही। थोडा अपनाने पर भी कुछ तो लाभ होगा। न अपना पाते हो तो भी ईश्वर-इच्छा। उसका समर्थन ही करते चले। मुख मे अच्छे को अच्छा कहने वाला, न अपनाता हुआ इस अपेक्षा से भी अच्छा कहा जा सकता है कि औरो के दिलो में तो उसने उस अच्छे-पन को अपनाने मे अच्छी सहायता की। इतना ही समझ लीजिए—'धर्म' हमारी हानियो को ही रोकता है। अपने को हानियो से बचाने का कर्म ही 'धर्म कार्य' है। मन को बुराइयो की तरफ न झुकने देने का अंकुश ही 'धर्म' है। जीवन रूपी गाडी मे 'ब्रेक' का काम करनेवाला साधन ही 'धर्म' है।"

मन की साधना में मूर्ति का सहयोग

साधना के अन्य उपाय

ससार में मनुष्य के हाथ की कुछ भी बात नही है। यदि कुछ हाथ की बात है तो इतनी ही कि वह अपनी ईमानदारी को कायम रख सकता है। इसलिए हमें अपने मन को स्वेच्छा पूर्वक ईमानदार बनाना है। उस पर अपना नियत्रण कायम करना है। स्थायी रूप से हमारा यह अधिकार कैसे टिका रहे, और कौन-से प्रयत्नो से यह सफलता गृहस्थावस्था मे भी हमें मिल सके, यही हमें समझना है।

प्रयत्न करने के सिवाय और हम कर ही क्या सकते है? यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि प्रयत्नो मे भी कई प्रयत्न अधिक प्रभावशाली होते हैं। जैसे बच्चे का पढना बहुत कुछ बच्चे की बुद्धि पर ही निर्भर है पर थोडा भाग पढाने वाले पर भी निर्भर है। हम जानते है कि एक शिक्षक, दो बच्चो पर समान मेहनत करके भी शायद एक जैसा सयाना न बना सके पर यह भी सच है कि एक ही विषय पढने वाला विद्यार्थी एक शिक्षक की अपेक्षा दूसरे शिक्षक से बहुत अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है। यही हाल हमारे मन को साधने के उपायो का भी है। उपायो में भी विशेपता की दृष्टि से हम बडा अन्तर अनुभव करते है। मन को नियत्रित करने की जैनो की भी अपनी एक पद्धति है।

यह तो हम अच्छी तरह देख चुके हैं कि हमारी सारी सफलता की कुंजी मन पर अकुश कायम करना ही है। तब कुछ उपयोगी उपायो का भी थोडा-सा विवेचन क्यो न करे? जिससे हमें भी अपने उद्देश्य पूर्ति में अधिक सफलता प्राप्त हो सके।

मन को वश मे रखने के लिए पूर्वजो ने बहुत से उपाय समझाये है जैसे अच्छे साहित्य का पठन-पाठन, खान-पान की शुद्धि, सत पुरुषो की सगति एव नियम पूर्वक स्वाध्याय इत्यादि-२। इनमे अपने-२ स्थान पर सभी महत्वपूर्ण हैं और

सभी मिल कर हमारे उद्देश्य की पूर्ति करते है। जैसे पठन-पाठन के विना तथा गुरु की सहायता के विना ज्ञान की प्राप्ति नही होती और ज्ञान के विना न हम आचार-व्यवहार को, न खान-पान की शुद्धि को और न स्वाध्याय को ही समझ सकते हैं यानी "ज्ञान" विना सब शून्य।

'खान-पान' पर जब विचार करते हैं तो वह भी कम महत्वपूर्ण मालूम नही पडता। खान-पान की शुद्धि के विना मन का ठिकाने रहना असम्भव है। जैसे भंग, अफीम या मदिरा के नशे मे मनुष्य मनुष्य होते हुए भी अपना सब कुछ भूल बैठता है। ज्ञान-ध्यान सब धरा रह जाता है। इसी तरह मास खाने से मनुष्य की प्रवृत्ति वहुत कठोर बन जाती है। आज जिसे अडा पकाने में दया नही आती कल उसे एक मुर्गी मसोसते कोई कष्ट नही होगा। धीरे-धीरे उसका हृदय ऐसा निर्दयी हो जाता है कि वह एक वकरे या भैसे को भी आसानी से काट सकता है। चाहे यह कार्य आज वह अपने पेट के प्रश्न के वहाने ही करता हो अथवा अपनी जिह्वा के वशीभूत हो अथवा अपनी काम वासनाकी पूर्तिकी दृष्टि से, पर इससे भविष्य महा अधकारमय वन जाता है। तामसिक प्रवृत्ति हो जाने के कारण लडना-झगडना उसके लिए वहुत ही मामूली बात हो जाती है और मौका पडने पर वह वाप या भाई की हत्या करने में भी सकोच नही करता। ऐसा व्यक्ति अपने मन पर कभी स्थायी नियत्रण कायम नहीं कर सकता। ये है खान-पान की शुद्धि सम्बन्धी विचार।

इसी तरह जब हम 'स्वाध्याय' पर विचार करते है तो उसे और भी महत्व-पूर्ण पाते हैं। जब मन पर हमारा अधिकार होगा तभी हम उसे अशुद्ध आहार से बचा सकेगे, ज्ञान की तरफ झुका सकेगे तथा, सतो की सगति का लाभ दिला सकेंगे और अवगुणो से बचा सकेंगे। स्वाध्याय के विना मन सधता नही। इसलिए 'स्वाध्याय' भी वडा मूल्यवान लगता है।

जैसा पहले विचार चुके है, ये सभी महत्वपूर्ण है ठीक वैसे ही जैसे कुर्सी के चार पाये। चार पायो में किसको अधिक महत्व दें, यानी सभी महत्वपूर्ण होते है।

हमारा लक्ष्य यहाँ 'स्वाध्याय' पर विशेप रूप से विचार करने का है। यह हम देख चुके हैं कि स्वाध्याय का भी जीवन में वडा महत्व है। ऐसे स्वाध्याय

को हमे नियम पूर्वक नित्य ऐसे ही अपनाना पड़ेगा जैसे शरीर के लिए हम भोजन को अपनाते हैं। जिस प्रकार भोजन की वहुतायत होने पर भी शरीर को दस-वीस वर्ष का भोजन एक साथ नही दिया जा सकता, ठीक वैसे ही मन को भी अपनी मात्रा नित्य-प्रति ही चाहिए।

सभी जानते है कि सत्य वोलना वहुत अच्छा है पर कई लोग समय पर झूठ वोल देते है। कई ऐसे दृढ होते है कि मृत्यु भले हो जाय पर झूठ कभी नही वोलते। यह उनके आत्मवल का ही महत्व है जो उन्हे अभ्यास से प्राप्त हुआ है। इसलिए स्वाध्याय का भी जीवन पर वडा जवरदस्त प्रभाव पडता है।

पूर्वजो ने भी, ज्योही हम सो कर उठते है, प्रथम हमे स्वाध्याय करने ही का उपदेश दिया है। सामायिक, प्रतिक्रमण, साधु सन्तो की सगति, सत साहित्य मनन, पूजा-पाठ यानी आत्मचिंतन आदि ऐसी क्रियाएँ है जो हमारे 'स्वाध्याय' ही से सम्वन्ध रखती है। दिन के अन्य कार्य शुरू करने के पहले ही हम अपने मन को अच्छे गुणो में इतना मजवूत कर लेते है कि गलत रास्ते पर भटकने से उसका वहुत कुछ वचाव हो जाता है। वास्तव में, यदि हम इन क्रियाओ को ठीक से समझ कर अपनावे तो हमारा जीवन सुधर कर वहुत ही सुखमय वन सकता है।

हमे समाज के साथ प्रेम-पूर्वक कार्य करना है और कलह से वचना है। अनिच्छा से भी हमसे कोई न कोई भूल हो ही जाती है। इस भूल के सुधार का यही उपाय है कि उसके लिए मन से पश्चाताप करें, क्षमा मागे। 'भविष्य मे ऐसी भूल नही करेगे, ऐसी प्रतिज्ञा करे और यदि वह अब भी सुधर सकती हो तो उसे सुधारें। 'क्षमा मागना' एक वहुत वडा गुण है। इससे अभिमान रूपी अवगुण का नाश होता है और विनय गुण वढता है। दूसरो पर क्रोध कम होता है और प्रेम वढता है। मन क्षमा मागने मे वडा सकोच करता है इसलिए क्षमा मागने की प्रवृति हमे मन मे अवश्य पैदा करनी चाहिए। दोनो समय प्रति-क्रमण करने का यही तात्पर्य है। यहाँ हम अपने अपराधो के लिए क्षमा मागते है और भविष्य में भूल न करने की प्रतिज्ञा करते है। ये ही लाभ-सामायिक से हैं।

वहुत से लोग हमारे इस तरह के व्यवहार पर हँसते हैं। उनका कहना है—"रोज-२ जान-बूझ कर भूल करते जाना और फिर सुवह, शाम क्षमा माग

लेना अच्छा धधा है। जिसके प्रति भूल की हो उसके सामने रहने पर भी उससे क्षमा मागते नहीं, उसमे दिल साफ करते नही और पीठ पीछे लगते है क्षमा का ढोंग दिखाने।"

उनके कहने पर हमे उचित ध्यान देना चाहिए। दो गृहस्थो के नही, दो मुनिराजो के प्रतिक्रमण करने के बाद, उन्हीं मे कलह का रह जाना,क्या प्रदर्शित करता है ? क्या प्रतिक्रमण हुआ ? जान-बूझ कर भूल करना और ऊपर से क्षमा मागते जाना या सामने वाला उपस्थित रहने पर भी प्रत्यक्ष क्षमा न मागना निश्चय ही कमजोरी है। इसी तरह दुकानदार रोज कम तोलता है, कम मापता है, झूठ बोलता है और लगता है शाम को प्रतिक्रमण करने और झुक-२ कर क्षमा मागने। कहता है—"मैंने कम तोला हो, कम नापा हो तो क्षमा मागता हूँ, झूठ बोला हो तो क्षमा मागता हूँ।" तब ऐसे व्यवहार को देखते हुए मानना पडता है कि दुनिया जो कुछ हमारे प्रति सोचती है, ठीक ही सोचती है। हम वास्तव में दया के पात्र है।

ऐसे प्रसग भी आते है जहाँ हमे जान-बूझ कर किसी के दुःख का कारण बनना पडता है। मान लीजिए आपको बरबस युद्ध करना पड-रहा है। शत्रु अन्याय से बाज नहीं आता। लडाई में आप भी छल, कपट, आदि का आश्रय लेंगे ही। ऐसा करते हुए आपके मन में जरा भी खुशी नही है। ऐसी अवस्था में यदि आप सुबह-शाम क्षमा मागें और उस स्थिति से छुटकारा चाहें, तो आपको कैसे बुरा कहे ?

कभी-२ हमारे कषायो और विषयो का इतना जोर हो जाता है कि विवेक हमारा साथ छोड देता है और हम भूल कर बैठते है। जब खून ठडा पडता है तब सोचते हैं कि ऐसा क्यो कर डाला, ऐसा क्यो कह डाला ?

वास्तव में हमारा मन सरल होना चाहिए। हमारे मे ढीठता और कपट का होना अच्छा नहीं है। ऊपर-ऊपर से माफी मागने वाले को आज चाहे लाभ न हो पर कभी उस माफी का उस पर ऐसा असर हो जाता है कि वह खुद शर्मिन्दा हो जाता है और वही कालातर मे उसके अन्तःकरण को निर्मल बना देती है। आज कल लोग बात-२ मे 'एकस्क्युजमी' 'एक्सक्यूजमी', कहते देखे जाते है। उनके इस गुण की हम अन्तःकरण से प्रशंसा करते है।

क्षमा मागने की यह पद्धति अत्यन्त महान् है। मनुष्य से ही नही, हम हमारे साथ रहने वाले समस्त जीवो से क्षमा मागते है। किसी प्राणी को दु ख देना नही चाहते। फिर भी ससारी हैं। किसी कारण से उनके दु ख का कारण बन ही जाते है, भूल से अथवा अशुभ कर्मो के उदय से। उसके लिए पश्चाताप करें, क्षमा मागें तो यह क्रिया प्रशसनीय ही समझी जायेगी।

साधु-सतो के व्याख्यानो से मन को रास्ते पर रखने मे बडी मदद मिलती है। वे भी कुछ समय निकाल कर हमे उपदेश देते हैं और अच्छी बातो का ज्ञान कराते है। मन को किन उपायो से सही रास्ते पर चलाया जा सकता है यह समझाने मे वे हमारी बडी सहायता करते है।

अच्छा साहित्य तो हमारे लिए कल्पतरु के समान है जो चौबीसो घटे हमे लाभ पहुँचा सकता है।

पूजा का अवलम्बन

स्वाध्याय के कुछ उपायो मे से एक उपाय ऐसा है जो हमारे मन को सबल बनाने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वह उपाय है जिनराज भगवान की "मूर्ति पूजा"। आपका ध्यान इसी ओर आकृष्ट करने का मेरा मुख्य ध्येय है। हमारे मन मे यह विचार आ सकता है कि जब हम हमारे मन को सामायिक,प्रतिक्रमण, साधुओ एव विद्वानो की सगति और सत् साहित्य मनन आदि द्वारा अच्छे रास्ते पर स्थिर रख सकते हैं तब मूर्ति-पूजा जैसी इतनी खर्चीली और परिश्रमी क्रिया को क्यो अपनावे ?

अन्य उपायो से तुलना :—यह बात माननी पडेगी कि दूसरी कई क्रियाओ की अपेक्षा मूर्ति-पूजा मे खर्च अधिक है और परिश्रम भी। हमे इसे अपनाने मे काफी परिश्रम करना पडता है। पर जब हम इसकी उपयोगिता पर सहृदयता पूर्वक ध्यान देते है तो हमे अपने पूर्वजो पर, जिन्होने अपने अथक परिश्रम और अपार धन राशि से यह अमृत घट बनाया है, बहुत ही गौरव होता है।

स्वाध्याय के अग पौषध, प्रतिक्रमण और सामायिक बहुत ही अच्छी और ऊँचे दर्जे की क्रियाएँ है पर है एक खासी अच्छी जानकारी रखने वालो के लिए ही।

साधु-मतो के व्याख्यान निश्चय ही हम सबके लिए बडे हितकर होते है पर कठिनाई यह है कि उनकी प्राप्ति अति दुर्लभ होती है। वे तो अपने ज्ञान, ध्यान तपस्या, यानी स्वाध्याय मे इतने तल्लीन रहते है कि उन्हे इतना समय कहाँ कि रोज-२ हमें अपनी आवश्यकतानुसार व्याख्यानो से लाभ पहुँचाते रहे। माना कभी कोई विहार करते-२ आ गये, तो भी उनका निवास, हमारे साथ अति अल्प काल का होता है। कभी-कभी हम ऐसे दूर देशो में जा बसते है जहाँ उनका आवागमन ही नही होता।

इतने बडे देश में इतने कम साधु, और उनके पास उपदेश देने का अति कम समय, फिर ऐसा सुन्दर सुयोग हमारी आवश्यकतानुसार हमे नित्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? कई कह सकते है कि अब वह जमाना थोडे ही रहा है कि मुनि वर्षो तक तपस्या और ध्यान में मौन रह कर अपनी पलक ही न खोले या शहरो के बाहर बहुत दूर ठहर कर जब चाहें तब विहार कर जाये। अब तो इन उदार महापुरुषो ने अपने उपदेशो द्वारा भविजीवो को तारने के लिए अपना जीवन ही अर्पण कर दिया है। ये करुणा सागर अति दूर-२ तक, अति उग्र विहार का कष्ट उठाते हुए पहुँचने की कोशिश करते ही रहते है और दिनमें एक बार नही, दिन-रात में चार-२ बार,गला बैठने पर भी गला फाड-२ कर जन साधारण के हित की दृष्टि से घटो व्याख्यान देते हैं। अत्यन्त सतोष इस बात का है कि कोई सुश्रावक व्यस्तता के कारण, अरुचि अथवा प्रमादके कारण या अस्वस्थता के कारण उनका सदुपदेश सुनने को उनके ठिकाने तक न पहुँच सका हो तब भी ये महा तेजस्वी उस सुश्रावक की समृद्धि अथवा उसके सरकारी, या सामाजिक पद की महत्ता को मद्दे नजर रखते हुए श्रीमान् के भवन, बगले अथवा निवास - निकेतन तक जाकर भी उपदेश का लाभ पहुँचा आते है। इस स्थिति मे महगी मूर्ति-पूजा की क्या आवश्यकता है ? मूर्ति-पूजा की तरफ यदि हमें झुका दिया जाता है तो हमे उपदेश ग्रहण करने वालो से भी अधिक इन उपदेश देने वालो को, कितनी गहरी अतराय पडेगी, सोचा भी है ?

वस्तुत व्याख्यान सुनने वालो को व्याख्यान सुनने में उतनी रुचि नही है, जितनी व्याख्यान देनेवालो को व्याख्यान देने में है। व्याख्यान आज कल सस्ते जरूर हो गये है पर बात इतनी ही है कि इन्हें मुनि-व्याख्यान नही कह सकते। ये

व्याख्यान तो स्वकीर्ति के इच्छुक भेद-भाव बढाने वाले चतुरो के है जो मान अभिमान मे डुबे, अपनी उदर पूर्ति करते फिरते है। यह इन्ही महानुभावो की कृपा है कि आज हम जैनी ऐसी छिन्न-भिन्न अवस्था में अपने आप को पा रहे हैं और ऐसी जर्जर अवस्था को देख कर ही, इच्छा न होते हुए भी कुछ अप्रिय लिखने को विवश होना पडा है।

प्रभु-पूजा तो वालक से वृद्ध, जड़ से महान् पडितराज तक को, किसी न किसी रूप मे हित पहुँचाने वाली वहुत ही सरल क्रिया है। साथ-२ यह व्यवहार इतना प्रभावोत्पादक है कि पत्थर मे भी फूल खिला देता है। ऊँचे से ऊँचे अध्यात्मवादी से लगा कर वालक जैसे अति सुकोमल मन की रुचि के अनुकूल, गुणो की तरफ बढने के सभी साधनो का इसमे सागोपाग समावेश है। बालको की दृष्टि से तो मंदिरो का उपयोग अपना सानी नही रखता। जव एक बालक को भाव से झुक कर, हम परमात्मा की मूर्ति को वन्दन करते, चन्दन की विंदी लगाते, पुष्प चढाते अथवा जय वोलते देखते हैं तो हम अपने इस प्रयत्न को वडा ही महत्वशाली अनुभव करते है। वालक पन ही से वच्चो मे परम पिता परमात्मा मे अनुराग उत्पन्न हो, उनकी अति कोमल वृत्ति पर प्रभु-गुणो का रग जमे एव प्रभु गुणो में उनकी रुचि वढे इससे अधिक उपयुक्त सरल क्रिया और कौन-सी हो सकती है ? वालको के हृदय की सरलता और तन्मयता को देखकर हमारा हृदय भी आनन्द-विभोर हो जाता है और हम प्रभु गुणो मे और अधिक भाव से झुक जाते है। मूर्ति-कला का रहस्य महान् है। जितना ही हम इस पर गहराई से चिन्तन करेंगे, उतने ही हम अधिक आकृष्ट होते जायेंगे।

हमे तो विवेक से अपने हित को प्रधानता देनी है। खर्च का जो भय हम महसूस करते है वह नितान्त हमारी ना-समझी है। आगे आप देखेंगे कि अति उच्च श्रेणी की सामाजिक प्रणाली के कारण वहुत वडा लाभ कितने कम-से-कम खर्च में लिया जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर स्थिति वाले भाई, उल्टे अधिक फायदे में रहते हैं। खर्च के लिए किसी को भी घवडाने की कोई आवश्यकता नही। अधिक खर्च करें यह हमारी इच्छा पर निर्भर है।

उद्देश्य भिन्नता :—हमे पूजा के असली रहस्य को समझने की आवश्यकता है। लोगो ने जो शंकाये की थी वे कितनी निर्मूल है, उनका विचार हम

पीछे कर चुके है। अब हमें इसकी उपयोगिता परखनी है। जैन परपरा-नुसार इसमें न तो अन्य मतावलम्बियो की तरह परमात्मा से द्रव्य वस्तुओ की प्राप्ति की वाछा है और न अन्य किसी प्रकार की सहायता के लिए, दीनता ही है। महान् आत्माओ के शुद्ध गुणो का आदर मात्र है। वह भी परम निर्मल-निमित्त कि इस तरह के व्यवहार से ऐसे शुद्ध गुणो मे हमारी भी सोई हुई रुचि जाग जाय। इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक है कि पहले हम अपने और दूसरो के उद्देश्य मे क्या अन्तर है, इसे भली प्रकार समझें।

बहुतो की ऐसी धारणा है कि थोडी बहुत द्रव्य वस्तुओ की प्राप्ति या अन्य किसी प्रकार की सकट के समय सहायता मिलने की आशा रखे बिना, कम ज्ञान वाले या हम सभी सहज स्वार्थ प्रवृत्ति वाले होने के कारण, दिल से अपने परमात्मा या इष्ट की न तो सच्ची आराधना कर सकते है और न इसके लिए दूसरो को अधिक आर्कषित ही, अपितु और अधिक अभिमानी बन जाने का ही भय है। इसलिए चाहे इस तरह हमारी आशा की पूर्ति हो अथवा न हो, पर आशावादी रहने ही में लाभ है।

उनमे ऐसी धारणा, उनके सरल स्वभाव से हमारे हित की दृष्टि से उत्पन्न हुई हो, अथवा उनके कपट पूर्ण किसी स्वार्थ साधन की दृष्टि से, जैन मान्यता इसका समर्थन नही करती बल्कि इसे गलत और बुरी समझती है। बच्चा किसी इनाम या किसी वस्तु मिलने की आशा में जी जान से कार्य करे और फिर भी यदि आशा-नुसार उसे न मिले तो वह अत्यन्त निरुत्साहित हो जाता है और उसका सम्पूर्ण विश्वास जाता रहता है। ऐसा धोका खाकर, वह भविष्य में अधिक सक्रिय रहना तो दूर रहा उल्टे निष्क्रिय हो जाता है। इसी तरह यदि हम किसी आशा को लेकर दौड लगाते हैं और जब समय पर हमारी आशा फलवती नही होती तो हमारे मन में एक बडी भारी निराशा और अश्रद्धा पैदा हो जाती है। हम सोचने लगते है कि यह सब झूठ, प्रपच, और ठग बाजी है। न देव है, न देवता। हमें मूर्ख बनाने का एक रास्ता है। इस गहरी निराशा से हमारे मन में एक ऐसी ग्लानि पैदा हो जाती है कि हम एक दूसरा ही रूप ले लेते हैं। यानी हम नास्तिक बन जाते है।

हमे रोग हो गया, हमारा धन चला गया या हम किसी प्रकृति-प्रकोप में फँस

गये तो रात-दिन परमात्मा का स्मरण करते हुए प्रार्थना करते है—"हे भगवन् हमारी सहायता कीजिये और हमें ऐसे सकट से उबारिये।" इतने पर भी जब कुछ नही होता और काम बिगड जाता है तो हमारा दिल टूट जाता है। परमात्मा के प्रति हमारे दिल मे अश्रद्धा पैदा हो जाती है और हम नास्तिक बन जाते है। भाग्य से नास्तिक न भी बनें तो भी हममें अन्य दोप उत्पन्न हो जाते है और हम अकर्मण्य बन जाते है। संकट के समय विश्वास के आधार पर हम अपने पुरुषार्थ को ही छोड बैठते है। सोचते है—"आज नही तो कल वे ही उबारेंगे, वे ही सभालेंगे", फल यह होता है कि हम अधिक दीन-हीन होते जाते है। अत यह मान्यता अत्यन्त अहितकर लगती है।

यही कारण है कि परम पिता परमात्मा की पूजा मे हम पूर्ण न होने वाली किसी भी स्वार्थ पूर्ति की इच्छा नही करते। केवल उनके शुद्ध गुणो का प्रसन्नता से आदर करने का भाव रखते हैं और वह भी इसलिए कि इस तरह के प्रयत्न से हमारी आत्मा मे भी ऐसे गुण, जो दबे पडे है, सरलता पूर्वक शीघ्र विकसित हो जावें। ठीक वैसे ही— जैसे कवि, गवैया या खिलाडी आदि की कलात्मक कृतियो को देख कर हमारे मे भी वही कला उभर आती है। अप्रत्यक्ष रूप मे यह अवलम्ब क्या महत्व रखता है, उसके मूल्य का बोध, चिन्तन करने पर ही होता है। एक बिल्कुल सहायता नही करता। दूसरा सिर्फ अपने कलात्मक ढग के मनन ही मनन से चाहे वह देख कर हो, चिन्तन कर हो या पढ कर हो, बेहद लाभान्वित हो जाता है। महा भाग्यशाली एकलव्य ने गुरु द्रोण में श्रद्धा स्थापित कर, सिर्फ उनकी मूर्ति के सहारे ही, अपनी प्रतिभा से कैसा अपूर्व लाभ उठाया था, महा-भारत यह आज भी हमें मुक्त कठ से बतला रहा है।

परमात्मा की पूजा में अपने ही लिए और वह भी अपने आप से ही लाभ उठाने के सिवाय, न हमे किसी को राजी करना है, न कुछ मागना है। यदि स्वार्थ ही को हम 'मन से कार्य करने की रुचि' का कारण मान लें तो 'शुद्ध गुणो के विकास' का स्वार्थ तो हम यहाँ भी स्थापित कर सकते है और यह अच्छी तरह देख सकते है कि इस तरह के प्रयत्न से हमारे इस शुद्ध स्वार्थ की पूर्ति कम या ज्यादा, जल्दी या देर से अवश्य होती है या नही ? चूकि परमात्मा में गुणो की किसी प्रकार की कमी नही रहने और भविष्य मे भी किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न होने की गुजा-

यश न होने के कारण, हमारी क्षमता के अनुसार लाभ में किसी प्रकार की कमी नही रहती इसलिए यहाँ हमारे निराश होने का तो कोई मौका ही उपस्थित नही होता और न हमारे हृदय मे किसी प्रकार का उचाट ही होता है। बल्कि ज्यो-२ हम परमात्मा के निर्मल गुणो के महत्व को अधिकाधिक समझते हुए इस प्रकार से प्राप्त लाभ को देखते हैं त्यो-त्यो हमारा शुद्ध प्रेम दिनो-दिन शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह बढता ही जाता है।

इस पर भी कइयो की यह धारणा कि यदि परमात्मा कुछ नही करते है तो प्रकृति की जो यह महान् उथल-पुथल हम देख रहे है उसका सचालन कैसे हो रहा है ? हमारा भला-बुरा क्यो हो जाता है ? यह अवश्य विचारने लायक है।

जैन मान्यता ने अपना दिल खोल कर सभी के सामने कह दिया है कि परमात्मा किसी का भला या बुरा कुछ भी नही करते। सब कुछ अपने-२ प्रयत्नो पर ही निर्भर है।

प्रकृति पर जब हम दृष्टिपात करते है तो ये बातें हमे बडी गहन लगती है। इतनी विशाल पृथ्वी कैसे थमी हुई है ? ये तारे, यह चन्द्र, यह सूर्य इन सबका नियामक कौन है ? दिन और रात क्यो नियमानुसार होते हैं ? हमारे जन्म और मृत्यु का क्या तात्पर्य है ? आदि। कुछ भी हो इतने शक्ति शाली और आश्चर्यजनक पदार्थों को सभाल कर रखने वाली शक्ति भी कोई महान् शक्ति ही होगी। इस आपार शक्ति के सम्बन्ध में हम क्या सोचे ? आखिर यह रचना है क्या ? इसका क्या महत्व है ? ब्रह्माड के इन रहस्यो का उद्घाटन क्या सम्भव है ?

अनेक प्रकार के विचार हमारे मन मे उत्पन्न हो सकते है और हमे कुछ सोचने के लिए विवश कर सकते हैं। कहना इतना ही है कि इन विषयो मे हमारा ज्ञान पूर्ण नही है और हम सभी अनुमान को आधार मानकर यह खेल, खेल रहे हैं। कोई इस विपुल शक्ति को देव के नाम से सम्बोधित करने है, कोई इसको शक्ति ही समझ कर सतोप कर लेते है।

कुछ भी हो, इतना हम अवश्य अनुभव करते है कि समय-समय पर प्रकृति के प्रकोप हमारे ऊपर आते रहते हैं और हमें सकट में भी डाल देते हैं। प्रकृति में यह अनियमितता क्यो उत्पन्न होती है और क्यो हमारे जीवन के साथ यह खिलवाड़

किया जाता है इसका उत्तर देना हमारी सामर्थ्य के बाहर है। कई इसे देवी-देवता का प्रकोप समझते है और कई स्वाभाविक प्रकृति-प्रकोप। हम ऐसे सकटो से अपना बचाव अवश्य चाहते है। देवी-देवता का प्रकोप मान भी लें तब भी दीन बनकर दया की भीख मागना कदापि उचित नही है। देवी-देवता माना कि उदार है और हमारा कुछ भला कर सकते हैं तो वे अवश्य हमारा भला करेंगे और ऐसे सकटो को हमारे ऊपर आने नही देगे। फिर भी यह निर्विवाद है कि सकट हमारे ऊपर आ ही जाते है। कभी-कभी हमे इन्हें जीतने में सफलता मिलती है और कभी-कभी असफलता भी। और अन्त मे हम काल कवलित हो ही जाते है। लाख विनती करने पर भी जब हमारी हानि हो जाती है तब किसी के सामने सहायतार्थ हाथ पसारने से क्या लाभ? मानते हैं कि विवश हालत मे क्षणिक सान्त्वना के लिए हम ऐसा कर बैठते हैं, परन्तु इस पर भी गहराई से विचार करना जरूरी है।

सकट से हम घबडा अवश्य जाते हैं पर ऐसे समय मे भी यदि हमारा दृष्टिकोण सही हो तो हम उसका सामना आसानी से कर सकते है। हमे समझना चाहिए कि नमस्कार नमस्कार में कितना अतर होता है। रास्ते चलती एक अनजान युवती को यदि नमस्कार करें तो वह तुरन्त समझ जाती है कि उस नमस्कार के पीछे कौन-सा भाव छिपा हुआ है। शायद वह उस नमस्कार से बुरी तरह चिढ सकती है। धन की सहायता के लिए प्रार्थना के बाद दूसरे ही दिन कही मिलने पर उसी सेठ को यदि नमस्कार करें तो वह समझ जाता है कि किस आशय से उसे नमस्कार किया जा रहा है। अपने देश के स्वतत्रता-सग्राम में शहीद हुए वीर की मृतक देह को किये जाने वाले नमस्कार मे कौन-सा भाव भरा है, वह किसी से छिपा थोडे ही है। इसी तरह परम त्यागी, तपस्वी मुनिराज को जो नमस्कार किया जाता है, वह तो विशेष होता ही है।

अपने ऊपर ही इसे घटाकर देखा जाये। एक पडोसी बिना किसी स्वार्थ के आपको प्रणाम करता है और कष्टके समय मे भी सहायता मागना तो दूर रहा आपके प्रस्ताव पर भी सहायता स्वीकार करना नही चाहता या बडी हिचकिचाहट से स्वीकार करता है। पर एक दूसरा पडोसी उससे भी अधिक विनम्र भाव से नमस्कार करता हुआ कुछ न कुछ सहायता के लिए प्रार्थना करता ही रहता है

और जो देते हैं लेता ही रहता है। आपके ऊपर दोनो की क्या प्रतिक्रिया होती है ? जहाँ पहले के सकट पर आप तन-मन-धन से सहायता के लिए उद्यत रहते है वहाँ दूसरे के लिए आँख-मिचौनी करते हुए घृणा भाव से बचने की चेष्टा करते है। वस्तुत स्वार्थ के वशीभूत होकर किये गये नमस्कार से हमें एक वदवू की अनुभूति होती है ।

सकट हमारे ऊपर आते रहते हैं, आते रहेगे पर सकटो में भी हमें सभल कर रहना है। हाथ जोड कर प्रार्थना करने से कोई हमारे स꣡꣡ꣳ टाल देगा या अधिक सुख प्रदान कर देगा ऐसा समझना हमारी नितान्त भूल है और महान् दीनता है। थोडो देर के लिए यदि यह मान भी ले कि देव चाहें तो हमारी सहायता कर सकते है तव भी, वे हमारी इस स्वार्थपरायणता के कारण कभी खुश नही हो सकते। यदि वे हमें इस तरह के सकटो से बचा सकते तो उनके दो एक भक्त मृत्यु-मुख से बचे हुए, इस धरती पर जरूर मिल जाते। वे ही यदि सकट से बचा सकते तो धर्म-परायण भारत यवनो और अग्रेजो के पजे में हजारो वर्षों तक जकडा नही रहता और न लाखो गायें ही काटी जाती। जब ऐसे प्रश्नो के हम सतोषजनक उत्तर नही दे सकते तो हमें समझना चाहिए कि हम भूल कहाँ कर रहे हैं ? इस तरह की गलत मान्यता से हमें नीचा देखना पडता है और हम अपने देवो को भी नीचा दिखाते है।

सकट के समय हम अपने परमात्मा को याद करे, यह बिल्कुल उचित है और ऐसा हमें बराबर करना चाहिए पर यह समझकर नही कि वे हमारी सहायता कर देंगे बल्कि यह समझ कर कि ऐसे सकटो का,जो उनके जीवन काल में उन पर भी आये,बडे आत्म-बलसे डटकर,बहादुरी से उन्होने सामना किया और विजयी हुए। हमें भी वैसी ही वहादुरी रखनी है। जैसा शरीर उन्हें मिला था वैसा ही शरीर हमें भी मिला है, हम भी उन्ही की सतान है। फिर क्यो न वैसे ही शक्तिशाली बन कर डटे रहे। दुख मे हो अथवा सुख में, ऐसे विजयी महापुरुषो को याद रखने का यही अर्थ है कि उचित रास्ते पर चलने से हिम्मत न हार जायें। उनको याद रखने से हमारा आत्मबल सगठित हो जाता है। उनके पद चिह्नो के अनुकरण से हमारा मार्ग सही और सरल बन जाता है और कार्य में जोश बना रहता है; जैसे, बटोही भटक जाने पर किसी के पदचिह्नो के सहारे गाव का रास्ता

पा लेता है। पद-चिह्न बटोही को गांव नही पहुँचा रहे हैं। गांव तो वह तभी पहुँचेगा जब वह खुद चलेगा, पर पद-चिह्नो का सहारा भी कम सहारा नही कहा जा सकता। इसलिए हमे भी यह बराबर ध्यान मे रखना चाहिए कि हमारे लिए जो कुछ होगा वह हमारे करने ही से होगा। हम अपने लिए क्यो किसी को कष्ट दे? क्यो दीन बने? विनय तो हम सबका करेगे पर किसी गरज से नही। यह हमारा अभिमान नही है। कार्य क्षेत्र मे कार्यरत होने की सच्ची प्रेरणा है। सच्चा आत्म-गौरव है। आखिर देव-देवियो का हमारे से प्रसन्न होने या नाराज ; ने का कारण ही क्या है? वे तो हमसे कुछ भी लेते हुए नही दीखते। भोग भी जो कुछ उनके नाम से लगाते है आखिर पाते तो हम या हमारे पुजारी ही है। उन्हे हमसे क्या प्राप्त हुआ? क्या वे हमारी चापलूसी पसन्द करते है?

धनवान पड़ोसी के लिए भी हम कभी काम आ ही जाते है, चाहे कम-से-कम उनकी हा-मे-हा मिलाने का ही मौका मिले, पर देव-देवियो के तो किसी भी कार्य को करते हुए हम नजर ही नही आते। देखा-देखी जैन परपरा मे भी अधिष्ठायको की पूजा-भक्ति इसी प्रकार की गलत धारणा से होने लगी है। यह बहुत ही दु.ख का विषय है। शुद्ध परंपरा मे यह एक धब्बा है।

हम देवी-देवताओं की योनि मान सकते है। उन्हे याद करके बहुमान पूर्वक आह्वान भी कर सकते है, सिर्फ इसी भाव से कि हे महाभाग! यदि आप कही विराजते हो तो जिनराज भगवान के शुद्ध गुणो के बहुमान करने की मंगलमय कृति मे सम्मिलित होने के लिए, जिस किसी भी रूप में सभव हो, आप अवश्य पधारे और हमारे साथ-२ अपनी आत्मा मे ऐसे शुद्ध गुण अपनाने का लाभ लें। इसके अतिरिक्त हम आपसे कुछ नही चाहते। उनके प्रति ऐसा विनय भाव रखना ही हमारे लिए पर्याप्त है। इस विनय से वे इतने प्रसन्न होगे कि यदि वे हमारे लिए कुछ कर सकते हैं तो सब कुछ करेगे।

मोक्ष-मार्ग को अपने पद चिह्नो से सुशोभित करते हुए और उस मार्ग को तय करने के तरीको को समझा कर, हमारे लिए उसे सरल बनाने वाले महान् उपकारी जिनराज भगवान का; या अपने बुद्धि बल से, तप बल से इस चिह्नित मार्ग की रक्षा करने वाले हमारे प्रवीण प्रहरी महान् आचार्य या मुनि महाराज का;

या उस मार्ग में बढने में कारण स्वरूप बन सहयोग देने वाले अन्य तमाम देव-देवियो या भाइयो का हम चाहे जितना उपकार मानें, चाहे जितनी इस उपकार या उनकी सफलता प्राप्ति के लिए उनकी प्रशसा करें, हमारे लिए कोई विशेष बात नही। पर किसी प्रकार की दीनता हमारे मन में नही रहनी चाहिए। हम मनुष्य हैं, महान् आत्मबल के स्वामी हैं। सब शक्ति हमारे भीतर है। हमें अपनी असलियत को समझने की आवश्यकता है। यदि देव हमारी सहायता कर सकते हैं तो हमारे स्वार्थ रहित नमस्कार से खुश होकर वे जरूर हमारी सहायता करेंगे। यदि हमारी सहायता नही की जाती है और हम कष्ट में पड जाते हैं तो भी हमारे लिए निराश होने की कोई बात नही। हमने तो उनसे सहायता के लिए याचना ही नही की थी।

जिनराज भगवान की भक्ति से भी यदि हमें किसी प्रकार का लाभ न पहुँचे तो भी हमें जरा-सी निराशा या अश्रद्धा पैदा नही होनी चाहिए। कारण सब जगह हमारा प्रयत्न ही काम आता है। इस प्रकार के अवलम्बन से, आत्मबल को संगठित कर सकटो का सामना करने में हम कुछ अधिक ही समर्थ हुए हैं।

सफलता प्राप्ति में नैमित्तिक रूप से सम्पूर्ण उपकार महापुरुषो का यदि मान ले तो यह हमारी विनम्रता ही है पर असफलता के लिए तो हमें, अपने आपको ही पूर्ण जिम्मेवार समझना चाहिए न कि किसी दूसरे को। जैन प्रतिमा-पूजन मे और अन्य लोगो की प्रतिमा-पूजन में उद्देश्य की भिन्नता के कारण हमें महान् अंतर की अनुभूति होगी।

हमारे दबे गुणो को विकास में लाने के उद्देश्य से, इस प्रयत्न को प्रभावशाली, सरल और निश्चित समझकर ही हम इसे अपनाते है। हमें यह समझना चाहिए कि इस महान् प्रभावशाली और सरल प्रयत्न से हम अधिक-से-अधिक लाभ उठाने में कैसे समर्थ और सफल हो सकते है।

मूर्ति रचना की विशेषता :—समस्त मन्दिरो में, भिन्न-२ रगो और पदार्थों, धातु, पाषाण आदिसे निर्मित जिनराज भगवान की अनेक मूर्तियो को हम देखते हैं। यद्यपि रूप-रेखाओ में सब मूर्तियाँ एक जैसी हैं किन्तु केवल मूर्ति को देख कर यह नही बताया जा सकता कि यह किस तीर्थंकर की मूर्ति है। ध्यानस्थ भाव, शान्त वृत्ति, प्रसन्नचित्तता एव अन्य शुद्ध लक्षणो को देखकर केवल इतना ही

बतलाया जा सकता है कि यह हमारे किन्ही जिनराज भगवान की मूर्ति है। मूर्ति विशेष को पहचानने के लिए उस पर अंकित नाम या उनके पहचान का लक्षण ही काम में लाना पडता है। मूर्ति का पहले वाला नाम और लक्षण परिवर्तन करके दूसरा नाम और लक्षण लिख दें तो वही मूर्ति पहले भगवान की न रह कर दूसरे भगवान् की बन जाती है।

महात्मा गाधी की मूर्ति को, कोई सरदार पटेल की मूर्ति नही मान सकता। गाधीजी की मूर्ति के नीचे यदि पटेल का नाम लिख दें तो लोग शीघ्र भूल पकड लेगे। कारण स्पष्ट है, महात्माजी की आकृति सरदार पटेल की आकृति से बिलकुल भिन्न है। जब दो पुरुषो की आकृति भी एक मूर्ति द्वारा नही दिखाई जा सकती तब एक ही मूर्ति से समस्त तीर्थंकरो की आकृति का कैसे बोध हो रहा है ? द्रव्य शरीर की रूप-रेखाये तो तीर्थंकरो की भी जरूर ही भिन्न-भिन्न रही होगी। तब यह मूर्ति उनके द्रव्य शरीर की नही है, ऐसा निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है।

एक ही मूर्ति जब सब जिनराजो की कही जा सकती है तब निश्चय ही इसका कोई गभीर एवं सूक्ष्म कारण है। जब हम इस कारण का पता लगाते हैं और किसी ऐसी समानता को खोजते हैं जो सब जिनराजो में एक-सी रही हो तो हमे पता चलता है कि उनमें 'गुण' समान रूप से अवस्थित थे। तब निश्चय यह मूर्ति जिनराज भगवान के गुणो ही की रूप-रेखा है। इतना समझने के बाद, हम कह सकते है कि हम परमात्मा के द्रव्य-शरीर के पुजारी नही सिर्फ उनके गुणो के पुजारी है। हम गुणो का बहुमान करते हैं और गुणो को ही प्रधानता देते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब यह गुणो की मूर्ति है तब इसे किसी व्यक्ति विशेष के नाम से क्यो सम्बोधित करते है ? यदि आप से कहा जाय कि मुस्कराहट का चित्र बनाइये तो किसी व्यक्ति को आधार माने बिना कैसे बनायेंगे ? यदि दस हँसते हुए बालको की तस्वीर आपके सामने रखी जाय और आप से पूछा जाय कि इनमें, किसकी मुस्कान आपको ज्यादा अच्छी लगती है तो आप उस चित्र में किस वस्तु को देखेंगे ? मुस्कराहट को ही न ? आप उन बालको को नही पहचानते। आप उन बालको को नही देख रहे हैं। आप देख रहे हैं सिर्फ उनकी "मुस्कराहट"। निष्कर्ष यह कि बिना माध्यम के हमारा काम चल नही सकता।

इसी प्रकार गुणो को दर्शाने के लिए भी हमें एक माध्यम की आवश्यकता होती है। ऐसे महान् गुणो को धारण करने वाले तो केवल भगवान ही हो सकते हैं। इसलिए हमने उन्ही को माध्यम चुना। उनका व्यक्तिगत नाम तो इसलिए दे देते है कि उनका सम्पूर्ण उज्जवल इतिहास हमारे मन को मजबूत वनाने मे अधिक सहायता कर सके। आखिर हमें तो अपना हित देखना है।

'मूर्ति भगवान के द्रव्य शरीर की नही उनके गुणो की है'—ऐसा ठीक से समझ लें तो हमारे आपस मे फैले वहुत से मतभेद अपने आप समाप्त हो जायेंगे। फिर यह कोई नही कहेगा कि त्यागी भगवान को भोगी कैसे वना दिया, या मूर्ति में गुप्त अग या आँख का दिखाया जाना जरूरी है। जव मूर्ति भगवान् के द्रव्य शरीर की नही तव ऐसे विचारो का जो केवल उनके द्रव्य शरीर ही से सम्वन्ध रखते है, मूल्य ही क्या है। फिर तो हमारा एक ही लक्ष्य रहेगा—मूर्ति को अधिक से अधिक भाव-पूर्ण वनाना। ताकि परमात्मा के अनन्त गुणो की अच्छी से अच्छी झलक हमें अधिकाधिक रूप मे मिल सके। माध्यम को हम जितना ही कलापूर्ण ढग से वनायेंगे गुणो की झलक उतनी ही प्रभावशाली, स्पष्ट और स्वच्छ होगी।

वारीकी मे देखें तो पता चलेगा कि मूर्ति का प्रत्येक अग-प्रत्यग गुणो को दर्शाने में पूर्ण सक्षम है। किन्तु इस भावपूर्ण मुद्रा में गुणो की झलक, मुखारविन्द से ही अधिक मिलती है। इसमें भी आँखो का अपना विशेष स्थान है। यद्यपि भावो का प्रदर्शन मुखारविन्द से ही अधिक होता है पर दूसरे-२ अग-प्रत्यग भी अपना-२ सहयोग देकर उन भावो में तीव्रता या पूर्णता अवश्य उत्पन्न करते है। विना 'धड' के मुँह, और विना 'मुँह' के धड को देखने से पता चलता है कि दोनो के सहयोग की कितनी आवश्यकता है। एक के न रहने से कितनी विद्रुपता आ जाती है।

भगवान की ध्यानावस्था का ज्यो का त्यो स्वरूप—उनका सीधा वैठना या खडे रहना, दोनो हाथो की स्थिर अजली, वद नेत्र और हँस-मुख चेहरा आदि से—चलता है।

हमारी यह धारणा कि भगवान की समवसरण की अवस्था को लक्ष्य में रख, आँखो को खुली दिखाना ही उपयुक्त है, सहज ही जँच जाय ऐसी वात नही है,

कारण पद्मासन और हाथो की स्थिर अजली सम्भवतः भगवान के समवसरण के अवसर के उपयुक्त आसन न भी हो।

फिर भी, तर्क के आधार पर नही, रुचि सगत कहना चाहेंगे कि परमात्मा की मूर्ति में नेत्रो को अधिक फाड़ कर दिखाया जाना उपयुक्त नही जँचता।

वद नेत्र अल्पज्ञो के लिए कम प्रभावक हो सकते हैं पर उनका कार्य अर्ध-खुले नेत्रो से निकल सकता है। अव चूकि समाज में अल्पज्ञ ही अधिक होते हैं इसलिए उनके लाभ की दृष्टि से खुले नेत्रो वाली प्रतिमाओ को ही अधिक महत्व दिया है। कुछ वद नेत्रो वाली प्रतिमाये भी साथ-२ रखते है ताकि ऐसी प्रतिमाओ में रुचि रखने वालो का भी काम निकल जाय।

भगवान के गुणो को दर्शाने में गुप्त-अग के आकार का मूर्ति के साथ कैसा और कितना सहयोग है, इसका ज्ञान अभी तक हमे नही है। यदि इस प्रकार के आकार-प्रकार का दिखाया जाना गुणो से सम्बन्ध न रख, सिर्फ उनके स्थूल शरीर ही से सम्बन्ध रखता हो तव तो ऐसा दिखाने की हठ करना भूल है क्योकि आम लोगो पर इसका वहुत उल्टा असर पडता है। प्राय. लोग मूर्ति के शान्त मुखारविन्द को देखना छोड, इसी अग को देखने पर अधिक केन्द्रित हो जाते हैं और फल यह होता है कि हमारी यह परम मंगल कृति उनके विकार या हँसी का कारण वन जाती है। जव भगवान के द्रव्य शरीर से मूर्ति का कोई सम्बन्ध ही नही फिर हमारे बहु संख्यक भाइयो के मनो में सहज ही विकार उत्पन्न करने वाले इस अग को सामने न लाना ही उचित है। पूजनीय माता-पिता के दर्शन हमारे लिए कितने ही हितकारी क्यो न हो, उनकी नग्नता तो हमारे लिए विकारयुक्त, लज्जा पूर्ण या अखरने वाली ही होगी।

मानलें कि मूर्ति में इस अग के आकार-प्रकार का दिखाया जाना अच्छे भावोत्पादक में अधिक सहायक है, फिर बैठी मूर्तियो को न अपना कर अधिक भावोत्पादक खडी मूर्तियो को ही हमें अपनानी चाहिए? पर ऐसा तो नहीं किया जाता। यदि कहे कि किन्ही-२ को वैठी से और किन्ही-२ को खडी से अधिक भाव उत्पन्न होते हैं इसलिए दोनो ही प्रकार की मूर्तियो का उपयोग रखना पड़ता है—जैसे कई बद और खुले नेत्रो की मूर्तियो को साथ-२ रखकर सभी का ध्यान रखा करते है। पर यहाँ हमें और अधिक गहराई से विचारने की

आवश्यकता है। वंद और खुले नेत्रो की प्रतिमायें सबके लिए समान लाभकारी न होने पर भी किसी के विकार या रोष का कारण नही होती लेकिन यह नग्नता तो अनेको के विकार का कारण जो ठहरी। वडे-२ शहरो में तो महान् पवित्र मुनिराजो पर आम जनता क्रुद्ध होकर पत्थर तक फेंक कर अपना रोष प्रदर्शित करती देखी गई है। यह सब इसी कारण कि मुनिराजो की यह नग्नता उन्हें खटकती है। ऐसी स्थिति पर हमें जरूर विचार करना चाहिए। आम लोगो का ध्यान रखना एक जैन का बहुत वडा फर्ज होता है। इसलिए कम-से-कम बहु नस्यक लोगो के हित की दृष्टि से भी ऐसी नग्न मूर्तियो को तो हमें एकान्त में ही रखनी चाहिए जहाँ यह बोर्ड लगा हो—"सिर्फ पहुँचे हुए पुरुषो के लिए।" जैसे बच्चो के हित की दृष्टि मे बहुत-सी फिल्मो के लिए लिखा रहता है–'सिर्फ वयस्को के लिए'। इसमे सभी का काम बखूबी निकल जायेगा। आखिर अब हम जगल के रहने वाले नही है। हमे इस प्रकार के मतभेदो को ज्ञान मे सुलझा लेने चाहिए। हमारे हित को हमें सर्वोपरि स्थान देना है न कि मत को।

मूर्ति की बनावट का अधिक विचार करना कलाकारो और इस सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त विज्ञजनो का है। हमे इतना ही अधिकार है कि उनकी इस कलापूर्ण वस्तु मे हममे किस-२ प्रकार के भाव पैदा होते हैं यही उनके कानो तक पहुँचा दे। रुचि भिन्न होने के कारण विचारो में भी भिन्नता हो सकती है इसलिए पडित लोग विवेक से उचित समझे तभी सुधार करें। हमारे मन के अनुसार इसमें शीघ्र परिवर्तन हो जाना चाहिए, ऐसा हमारा आग्रह नही है। बहुत सम्भव है कही हमारी ही भूल हो रही हो। आखिर यह अकेले की वस्तु नही है। इसलिए इसमें सबके हित का ध्यान रखना अति आवश्यक है।

पूजा में उपयोग :—मूर्ति ही हमारे मदिरो में प्रधान वस्तु है और कोई ऐसी वस्तु वहाँ नही होती जिस पर हमे विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता हो। मूर्ति को स्थापित करने का हमारा एक मात्र ध्येय यही है कि हमारा चचल मन गुणो की तरफ झुके और अवगुणो से हटे।

मदिर मनुष्य मात्र की सपत्ति है। सभी इनसे लाभ उठाने के समान हकदार है। इस बात को ध्यान मे रखकर पूरे विवेक के साथ हमे अपने लिए

इनका उपयोग लेना चाहिए। मंदिर प्रवेश के बाद हमें वहाँ क्या करना चाहिए और कैसा उपयोग रखना चाहिए यह जानना हमारे लिए अति आवश्यक है। पूरे विधि-विधान को जानने के लिए तो हमें ऐसी पुस्तकों का सहारा लेना पडेगा जिनमे दर्शन और पूजा की विधि विस्तार से लिखी हो। वस्तुत' भूलो से जो हमें क्षति पहुँचती है हम उन्हें रोकें और उपयोग की कमी से जो हमे कम लाभ मिलता है उसें सीख कर अधिक लाभ उठावे।

हमारा उद्देश्य यही है कि मन का विपयो और कषायो की तरफ झुकने का जो आनादि काल का स्वभाव है, उसे रोकें। मन जब विषयो और कषायो से हट जायेगा तभी हमे परम आनन्द की प्राप्ति का अनुभव होगा।

पुरुषार्थ ही प्रधान :—यह हम जानते है कि अभी हम बहुत कमजोर हैं और हमारे मन का वेग बडा प्रवल है इसलिए अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए, हमने ऐसे महापुरुषो की मूर्ति का सहारा लिया है, जिन्होने अपने जीवन में सफलता-पूर्वक अपने मन पर विजय प्राप्त की थी। ये विजेता अपनी सहायता देकर हमें विजयी बना देंगे, चाहे हम कमजोर ही क्यो न हो, ऐसी वात बिल्कुल नही है। विजय हमारी तभी सभव होगी जब हम विजय के लिए पुरुषार्थ करेंगे। वे हमारी विजय के उतने ही निमित्त बन सकते हैं जितना एक पहाड की चोटी का विजयी, किसी ऐसे अन्य का जो वैसी ही सफलता की कामना रखता हो, निमित्त बनता है। चोटी पर विजय मे वह तभी सफल होगा जव स्वय प्रयत्न करेगा। विजेता के तौर-तरीको का अनुकरण करके वह अपने मार्ग को सरल वनाता हुआ, अच्छा लाभ उठा सकता है। अनेक भूलो और ठोकरो से बच सकता है और विजेता की देखा-देखी करता हुआ—अपने में अपूर्व जोश और रुचि की मात्रा जगा— आसानी से शीघ्र सफलता भी प्राप्त कर सकता है। सौभाग्य से यदि उसे, विजेता के उस प्रयत्न की फिल्म देखने को मिल जाय तो वह अवलम्बन उसके लिए कितना सहायक रहा, यह तो सही-२ वह पथिक ही हमें बतला सकता है।

एक प्रश्न उठ सकता है कि पहाड की चोटी के विजेता के अनुभवो को जानकर अथवा उसके कार्य-कलापो की साक्षात् फिल्म को देख कर, ऐसा ही प्रयास करने वाले को, कुछ प्रेरणा मिलने की अवश्य सम्भावना है; पर उसकी मूर्ति को देखकर या पूज कर उसके लिए किस लाभ की सम्भावना है ?

असल में बात यह है कि किसी के कार्य-कलापो को याद कर और साथ-२ उसकी मूर्ति को प्रत्यक्ष देख, दोनो के सहयोग से हमे बुद्धि से अपने मस्तिष्क में एक कल्पित फिल्म बनानी पडती है, जिसमे काफी योग्यता की आवश्यकता है, पर फिल्म मे हमे इन दोनो का मिश्रण स्पष्ट रूप मे बना-बनाया सरलता पूर्वक मिल जाता है। मूर्ति की उपयोगिता के सम्बन्ध मे सफलता न मिलने के कारण, निराश हुए उस पथके पथिकसे पूछिये कि ऐसे पथके विजेता की मूर्ति उसके सामने रखने मात्र से ही उस पर क्या प्रभाव पडता है ? वह उसी समय उस महान् विजेता के चरणों मे नत मस्तक हो जायगा, इसलिए कि ऐसी विकट स्थितियो का सामना करने मे वह कमजोर रहा पर वे धन्य है जिन्होने ऐसे महान् दुष्कर कार्य में भी सफलता प्राप्त की। सम्भव है ऐसे निराश काल मे विजेता की दृढता को तेजी से याद करके उसमें भी नया जोश उमड पडे,उसे फिर से नई प्रेरणा मिल जाय। वह अपनी शक्ति सगठित करने मे सफल हो जाय और सम्भव है वह विजयी भी बन जाय। हमारी तरह पूज्य भाव से तो विजेता की मूर्ति को वह इसलिए नही अपना पाता कि हमारे विजेता मे, जैसी हमारी श्रद्धा है वैसी उस विजेता मे उसकी श्रद्धा नही है। तुलना में अत्यन्त कमजोर होने के कारण एव विशेषकर उनके द्वारा किये गये उपकार की उदारता की दृष्टि से हम हमारे विजेता को बहुत ही अधिक पूजनीय समझते हैं जहाँ वह अपने आप को उस विजेता के समान समझता है। ऐसा होते हुए भी विजेता की मूर्ति को देखते ही उसके मन मे विजेता के प्रति इतना सम्मान पैदा हो जाना कम महत्वपूर्ण नही।

श्रद्धा की विशेषता :—गाधीजी की मूर्ति भी हमें उतनी ही पूज्य लगेगी जितनी उनके प्रति हमारी श्रद्धा होगी। आज वे हमारे बीच नही हैं पर उनकी मूर्ति या चित्र को देखते ही भिन्न-२ लोगो पर भिन्न-२ प्रकार का प्रभाव पडता है। कुछ की आँखो में आँसू छलक आते है तो कुछ बेपरवाही से ऊपर-२ ही से हाथ जोड लेते है। गाधीजी के चित्र या मूर्ति को देखते ही श्रद्धा वालो के मस्तिष्क में उपदेश, उनकी विशेषताएँ और उनके जीवन की विशेष-२ घटनायें इस तेजी से याद हो आती है मानो वे अपने मस्तिष्क में एक घटना-चक्र को प्रत्यक्ष देख रहे हैं। मुख्य बात यह है कि हमारा इस दिमागी फिल्म का हीरो (नायक) मूर्ति-रूप में हमारे सामने होने से घटनाचक्र का दृश्य विशेष रूप से अधिक स्पष्ट

दीखता है जो हमारे प्रत्येक के लिए अनुभव करने की वात है।

यदि गाधीजी मे किसी की पूर्ण श्रद्धा हो और परमात्मा मे हमारी श्रद्धा की तरह, उनके वतलाये रास्ते के सिवाय एक इच भी इधर-उधर जाने का इरादा न हो तो वह उनकी मूर्ति के चरणो मे श्रद्धा से दो फूल अवश्य चढायेगा। प्रत्यक्ष में इस व्यवहार से हमे लाभ का अनुभव न भी हो पर यह शत-प्रतिशत सत्य है कि, इस प्रकार के व्यवहार से वहाँ उन के वतलाये रास्ते पर चलने मे कुछ अधिक ही सक्षम होगा। कारण इस व्यवहार से उसे नित्य प्रति एक प्रेरणादायक स्फूर्ति प्राप्त होती रहती है।

यह तो हुई उसकी वात जिसने गाधीजी को प्रत्यक्ष देखा है और उनके सम्पर्क मे आने के कारण उनके गुणो मे श्रद्धा स्थिर कर चुका है पर उस वालक को हम गाधीजी के गुणो की तरफ किस प्रकार आकृष्ट कर सकते हैं, जिसने कभी उन्हे देखा ही नही ? यह हम अच्छी तरह जानते है कि गुणो ही के कारण हमारा किसी मे पूज्य-भाव उत्पन्न होता है पर असली करामात हमारे उस पूज्य-भाव की है जो गुणो की तरफ हमें अधिकाधिक खींच ले जाता है। किसी के प्रति यदि हमारा पूज्य-भाव शेष हो जाय, चाहे वे हमारे माता-पिता ही क्यो न हो, तो हम उनके अच्छे-अच्छे उपदेशो की भी अवहेलना करने लगते है। यदि हमारा पूज्य-भाव दृढ है तो उनकी हर वात को हम पूर्ण विश्वास के साथ मान लेते है। यह है श्रद्धा का महत्व।

पूर्ण श्रद्धा की तो वात ही अलग है पर वहुमान का व्यवहार तो हम थोडी श्रद्धा वालो मे भी देखते है। आज भी वडे-वडे लोग गाधीजी की समाधि पर वडी-२ पुष्प मालाये रखते है। इससे क्या लाभ है ? गाधी जी को न कुछ लेना न देना और न चढाने वालो को ही इस व्यवहार से किसी द्रव्य-वस्तु की प्राप्ति है। पर इससे चढाने वालो के मनो मे प्रेरणा और शक्ति तो मिलती ही है। साथ ही वे हमारे मन में और विशेष कर उन अबोध वालको के मन मे जिन्होंने कभी गाँधीजी को नही देखा है, श्रद्धा उत्पन्न कराने मे महान् सहायक बनते है। यह सब देख कर, वालक यही सोचते है कि महात्माजी जरूर एक वडे भारी महान् पुरुष हुए है, तभी इतने वडे-२ महानुभाव उनका इतना आदर सत्कार करते हैं और अपना मस्तक झुकाते है। बचपन ही से यदि किसी गुणवान के प्रति हमारे

पूज्य-भाव (श्रद्धा) उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिए हमें वहुत कुछ मिल गया। आगे चलकर उनके गुणो को धारण करने में और उनके कहे अनुसार चलने में हमारा मार्ग वडा सरल हो जाता है। यह उपलब्धि कम नहीं है।

जीवन-चरित्र की जानकारी .—दूसरी वात जो हमारे सामने आती है, वह है भगवान के गुणो से परिचित होकर उनको धारण करने की। गुणो की जानकारी उनके जीवन चरित्र से हो जाती है। उनके जीवन के सम्वन्ध में जितनी अधिक हमें जानकारी होगी, लक्ष्य-प्राप्ति में हमे उतनी ही अधिक सहायता मिलेगी। इस-लिए यदि उनकी मूर्ति से अधिक लाभ उठाना हो तो हमे उनके जीवन-चरित्र पर अच्छी तरह मनन करना चाहिये।

हम चौवीस तीर्थंकरो की मूर्तियाँ देखते है पर जिनका जीवन चरित्र हमें याद होता है, उनकी मूर्ति को देख कर जितने विचार हमारे मस्तिष्क में दौडते हैं उतने विचार उन की मूर्तियो को देखकर नही दौडते जिनका जीवन-चरित्र हमारी जानकारी मे नही है। भगवान् पर्श्वनाथ की मूर्ति को देखते ही, कमठ द्वारा उनको दिये गये कष्ट और ऐसे समयमें भी वे कितने शान्त रहे आदि घटनाक्रम शीघ्र हमारे दिमाग मे आ जाता है। भगवान नेमीनाथ की याद आते ही अन्य जीवोंके वचावमे उनके जीवन का महान् त्याग तथा विवाह की महान् उमग को सयमी जीवन में पलटना आदि घटनाएँ दिलमें रोमाच पैदा कर देती है। भगवान महावीर स्वामी की मूर्ति को देखते ही उनके पैरो पर खीर का पकाया जाना, कानो मे कीलो का ठोका जाना, सर्प का भयानक दशन फिर भी महान् शान्ति, महान क्षमा, अविचल ध्यान, प्रचण्ड तपस्या आदि अनेक प्रकार की घटनाये हमारी आँखो के सामने नाचने लगती है। पर जिन तीर्थंकरो का जीवन चरित्र हमारे ख्याल मे नही है, उनके सम्वन्ध मे अधिक क्या सोचेगे ? इतना ही कि वे एक तीर्थंकर थे। उनके जीवन चरित्र को ठीक से जाने विना हम अपने मस्तिष्क में भावो की विस्तृत फिल्म तैयार नही कर सकते। हाँ, इतनी सुविधा हमे जरूर है कि सव तीर्थंकरो की मूर्तियाँ एक जैसी होने के कारण तथा उनके गुण समान होने के कारण—क्षमा, शान्ति, करुणा, त्याग आदि—हम किसी भी मूर्ति को उन्ही की मान कर देख सकते हैं जिनका कि जीवन हमें याद है, या उनके विशेष-२ गुणो को याद करके सराहना, अनुमोदन आदि करते हुए लाभ उठा सकते है पर विस्तार पूर्वक जीवन-चरित्र

याद होने से उनके जीवन की विभिन्न घटनाओ को स्मरण कर हम अधिक लाभान्वित हो सकते है।

स्तवन, स्तुति, पूजा आदि की विशेषता :—पूर्वाचार्यो ने हमारी सुविधा के लिए भगवान के गुणो को अनेक छदो, स्तुतियो, स्तवनो तथा पूजाओ में अनेक प्रकार से लिपिबद्ध किया है। उन्हे जान लेने से भी हमे मूर्ति से लाभ उठाने मे बडा सहयोग मिल सकता है। गायन-कला का अभ्यास तो हमे होना ही चाहिए। यह सोने मे सुगन्धि के समान है। परमात्मा की शान्त मूर्ति के सामने उनके गुणगान और साथ-२ महान् गायन-कला का उपयोग। आनन्द की जो लहर मन मे उत्पन्न होती है कहते नही बनती। गायन-कला के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नही। यह कला मनुष्य को तो क्या, पशुओ तक को प्रभावित करने वाली है। इसके प्रभाव मे मनुष्य तल्लीन होकर थोडी देर के लिए संसार के सर्व सुख-दुख ही भूल जाता है। इसलिए अच्छे लाभ के लिए गायन-कला का अभ्यास होना हमारे लिए बहुत आवश्यक है। दिल भर कर जब तक परमात्मा के गुणो के दो एक गान नही कर लेते, हमारे उद्देश्य की पूर्ण पूर्ति हो नही पाती।

हमे यह भी अनुभव होता है कि गायन-कला को पराकाष्ठा तक पहुँचाने के लिये मूर्ति का सान्निध्य बडा सहायक सिद्ध हो सकता है। एक गायन मूर्ति के सामने गाइये और एक यो ही। सुनने वालो से पूछिये या अपने दिल मे अनुभव करिये कि मिठास किस में अधिक रहा, मन मे स्थिरता कहाँ अधिक रही और तल्लीनता किसमे अधिक आई? फिर तय करिये कि मूर्ति का योग हमारे लाभ की दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण और निराला है।

पूजा में द्रव्य की उपयोगिता :—द्रव्य-पूजा का विधि-विधान और इसके वास्तविक हेतु को हमे समझना चाहिए। परमात्मा में हमारा बहुमान यानी श्रद्धा और विशेष कर हमारे भटकते हुए मन को उनके गुणो मे टिके रहने मे सहारा मिल सके इसीलिए यह अवलम्बन विशेष रूप से लिया गया है। हम यह भी अनुभव करेगे कि हमारे इस प्रकार के व्यवहार से,अन्यमति, अल्पज्ञ और विशेष कर हमारे बच्चो को, जो कच्ची फूलवाडी के सदृश है, परमात्मा की तरफ आकर्षित करने का इतना अच्छा ढग है कि जिसका मूल्याकन नही किया जा सकता।

यदि शुरु ही से उनके हृदय में परमात्मा के प्रति पूज्य-भाव जागृत हो गये तो भविष्य में उन्हें वहुत वडी सफलता प्राप्त होना कठिन नही होगा। जव परमात्मा में प्रगाढ श्रद्धा रहेगी तभी वे अपने मन को सरलता और सफलता पूर्वक उनके वतलाये मार्ग की ओर प्रवृत्त कर सकेंगे। द्रव्य-पूजा से वच्चो और अल्पज्ञो पर तो अच्छा प्रभाव पडता ही है हमारे मन पर भी कम प्रभाव नही पडता। परमात्मा के गुणो में श्रद्धा रख कर जव चन्दन की एक विन्दी लगाते है या दो फूल अर्पित करते है तो मन प्रफुल्लित हो उठता है। मानो आज हम धन्य-२ हो गये। गुणो को धारण करने की मीज तो जव मिलेगी तव मिलेगी पर आज महाभाग्यशाली ऐसे गुणवान पुरुषो की प्रशसा करने का अवसर तो मिला। यह आनन्द तो प्राप्त हुआ। उस समय हमारा हृदय गद्-गद् हो जाता है। श्रद्धा से हम नत हो जाते है। आज गाधीजी ससार में नही रहे पर लोग उनकी समाधि पर दो फूल चढाकर ही अपने को सौभाग्यवान समझते है। फूल चढाते समय उनका रोम-रोम पुलकित हो जाता है। आँखो मे प्रेमाश्रु छलक आते हैं। उनका इतिहास मन में तरो-ताजा हो उठता है। उनके गुणो को याद करके मन को एक नयी स्फूर्तिदायक प्रेरणा मिलती हे। हमारी शिथिलता दूर होती है और हम उन गुणो में शक्तिशाली वन जाते है। हम मनुष्य है, ढग से हमें प्रत्येक वस्तु से लाभ उठाना चाहिए।

इसी तरह मिठाई, फल इत्यादि चढाने का उपयोग है। हम स्वय न खाकर, स्वय व्यवहार में न लेकर पहले ही दिन से 'परमात्मा की सेवा में भेंट करेगें', इस आनन्द मे मग्न हो जाते हैं। कभी-२ सोचते हैं कि कही यह हमारा वचपन तो नही है ? परमात्मा को न लेना न देना, न खाना न पीना। भेंट करेगे ? किसको भेंट करेंगे ? वे अव इस ससार में कहाँ रहे ? परमात्मा यहाँ है कहाँ ? पर नही, परमात्मा इस ससार में न रहे तो न सही। परमात्मा तक यह वस्तु न पहुँचे तो न सही अत्यधिक प्रेम के कारण हमारे हृदय में उनके प्रति इस तरह उत्पन्न हुए वे पूज्य-भाव अति तीव्र गति से उन तक अवश्य पहुँच जाते हैं– मानो हमारा साक्षात्कार हो चुका–इसमें कोई सन्देह नही।

स्वय न खाकर, उन पदार्थो को अपने लिए उपभोग में न लेकर और उन पदार्थो का मोह छोडकर इस तरह परमात्मा के वहुमान मे वडी खुशी से उन्हें अर्पण

कर डालना पौद्गलिक सुखो की होली जलाते हुए अक्षय आत्मिक सुख को ही प्राप्त करना है। जब परमात्मा में प्रगाढ अनुराग उत्पन्न होता है तभी ये सब व्यवहार मनुष्य अपना सकता है अन्यथा अपने सुखो को न्योछावर कर डालना खेल-तमाशा नही है। साधारण जन को, जो आनन्द पाने और खाने मे आता है वह त्याग कर चढाने मे जल्दी नही आता। कुछ भी हो परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करने की यह एक महान् कड़ी है।

मूर्ति-पूजा मे आस्था रखने वालो में से कुछ श्रद्धालु अपने ढग से पूजा करते है पर किसी द्रव्य वस्तु का,चढाने या सजाने के निमित्त, मूर्ति से स्पर्श कराना उचित नही समझते। उनका यह भी कहना है कि स्त्रियो को पूजा करने का हक नही है कारण जब मूर्ति को परमात्मा के समान समझ लेते है तब उसके साथ वे ही व्यवहार करने चाहिए जो परमात्मा की मौजूदगी मे उनके साथ किये जाते थे। क्या उस समय स्त्रियाँ उनको छू सकती थी ? उस समय आप उनके शरीर पर फूल रखते या चदन का लेप करते ? उनको गहने पहनाते ? यदि नही, तो फिर उनकी मूर्ति के साथ यह व्यवहार क्यो ?

मनुष्य के मस्तिष्क मे कब क्या विचार उत्पन्न हो जाते है कोई नही कह सकता। यह भी एक तरह की शका ही है। ऐसे विचार का उत्पन्न होना बिल्कुल स्वाभाविक है। वस्तुत भगवान की अनुपस्थिति मे, मूर्ति तो उनके गुणो को आत्मा मे जगाने का एक अवलम्बन मात्र है। शकाग्रस्त व्यक्तियो से ही पूछा जाय कि जब मूर्ति को उन्होने भगवान के समान मान लिया और उसके साथ प्रत्यक्ष भगवान के साथ जैसा ही व्यवहार करना उचित समझा, तब उसे तालो मे बन्द करने का क्या अर्थ है ? उसका प्रक्षालन आदि क्यो करवाते है ? यदि कहे कि जब तक पूजा करते हैं तब तक के लिए ही भगवान मानते है, बाद मे नही। तो बाद मे क्या मानते है ? यदि बाद में मूर्ति मानते है तब वे उस जादूगरनी से कम नही जो मनुष्य को भेड बनाकर रखती थी। जब चाहती, उसे मनुष्य बना लेती, जब चाहती भेड़ बनाकर रखती। क्या ऐसा सोचना हमारे लिए उचित है ? दुनिया इसीलिये हमारी मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध मे अनेक तरह की शकाये करती है। हमें गहराई से विचारना है कि मूर्ति को भगवान के सदृश मान लेने से भी मूर्ति भगवान नही 'मूर्ति' ही रहती है।

*'शका समाधान' में यह अवश्य स्वीकार किया गया है कि मूर्ति को भगवान जैसी ही समझकर अपनाने से बडा लाभ है जैसे किसी समस्या को हल करने के लिए उसी के उत्तर को, क, ख, ग, आदि मान कर चलते हैं।

यहां आशय समझने की आवश्यकता है। इस प्रकार मान कर चलने से उद्देश्य पूर्ति में मन को बडा सहारा मिलता है परन्तु क,ख,ग को प्रश्न का उत्तर मान लेने पर भी यह मतलब नही होता कि उसका उत्तर भी यही है और अब प्रश्न को हल करने की जरूरत नही रही। वस्तुत इस सहारे से प्रश्न के सही उत्तर तक पहुँचना है। मूर्ति को देखकर 'भगवान हैं' ऐसा भाव धारण करने पर एक अनोखी तल्लीनता उत्पन्न होती है। केसर, चन्दन, फूल, गहने और यहां तक कि मूर्ति भी क्षण भर के लिये हमारे सामने से अदृश्य हो जाती है। उस समय परमात्मा के दिव्य ध्यान मे हमारे सामने कोई वस्तु नही रहती। ज्योंही हमारी तन्मयता शेष हो जाती है त्योंही मूर्ति सारे पदार्थों सहित, फिर अपने रूप में प्रगट हो जाती है। ये सब परिवर्तन मन की गति से सम्बन्धित हैं। यह गति अत्यन्त सूक्ष्म और गहन होने के कारण पहचान मे तभी आती है जब कठिन साधना की जाती है। चूंकि यह गति अपने अनुभव से ही पहचानी जा सकती है इसलिए इसको और स्पष्ट करना कठिन है।

मूर्ति की 'अन्तर्ध्यान हो जाने वाली' घटना संदिग्ध लगती है पर है परखने लायक। चिडिया की आँख भेदने के समय गुरु द्रोण ने अर्जुन से पूछा—"अर्जुन क्या देख रहे हो?" अर्जुन ने कहा—"आचार्य! चिडिया की केवल-हां-आँख दीख रही है।" विचारिये, पेड और चिडिया का सारा शरीर कहां चला गया? बस यही सोचने और समझने की बात है।

सम्भव है हमे किसी व्यवहार की आवश्यकता न रहे या वह हमारे मन की रुचि के अनुकूल न हो। पर वह गलत है, व्यर्थ है—ऐसा निर्णय कर डालना उचित नहीं। मूर्ति सब समय मूर्ति ही रहती है। चाहे उसके सामने कोई गाये, बजाये, सजाये या जो चाहे करे।

---

* साक्षात भगवान समझ, मन को कैसे धोखा दें?

(देखिये पृष्ठ ४७-४८)

पूजा का स्वास्थ्य से सम्बन्ध :—पूजा से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए मन को स्वस्थ और प्रसन्न रखना बहुत जरूरी है। जितना वह प्रसन्न रहेगा उतना ही वह अपने लक्ष्य मे अधिक सफल हो सकेगा। मन की प्रसन्नता शरीर की नो ागता पर ही निर्भर है। इसलिए पूजा मे शरीर की स्वस्थता का आधार स्वच्छ ा एव अन्यान्य उपायो का भी बडा ध्यान रखा गया है। स्नान, स्वच्छ वस्त्रो का उपयोग, पचामृत से प्रक्षालन, धूप इत्यादि का प्रयोग, फूल, इत्र, चन्दन, ब्रास, केसर, कस्तूरी आदि द्रव्यो का प्रयोग—शरीर की नीरोगता और मन की प्रसन्नता से घनिष्ट सम्वन्ध रखते है। अनेक राज-रोगो से हमारा सहज ही में बचाव होता रहता है। जैसे—पचामृत के स्पर्श से नखो का विष हलका पड जाता है। चन्दन और ब्रास का तिलक, और पूजा के समय उसके उगली द्वारा स्पर्श से शरीर के कई तरह के विषो का प्रकोप शान्त हो जाता है। फूलो की सुगन्ध से मस्तिष्क सम्बन्धी अनेक रोगादिक उत्पन्न नही होते। धूप से अनेक विपैले जीवो से वचाव रहता है। पहाडो की चढाई से, खून की शुद्धि के साथ-साथ रक्त-चाप आदि भयकर रोग उत्पन्न नही होते। मन के हर्पित रहने से मन की चिन्ता तो दूर होती है, शरीर में रोमाच होने से एक प्रकार की प्रभावशाली विद्युत-लहर उत्पन्न होकर, शरीर के भयकर कष्टो को भी दूर कर देती है। वास्तव मे नीरोग रहकर ही हम धर्म-ध्यान का कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

सैकडो भाई एक साथ एकत्रित होते है। श्वास-उच्छ्वास या वायु की दुर्गन्ध आदि के कारण भी मन मे उचाट या शरीर मे रोगादिक पैदा हो सकते है इसलिए ऐसे साधन र ाने से ये सब सकट भी टल जाते है।

आत्म-बल की वृद्धि के लिए तो कहना ही क्या ? परमात्मा के शुद्ध गुणो की याद से स ा आनन्द की सृष्टि हो जाती है,—"उत्तम ना गुण गावता, गुण उपजै निज अग।"

पूजा में उपयोग और विवेक

भाइयों से बर्ताव :—चूकि मदिरो मे सैकडो भाई लाभ उठाने के लिए एक साथ आते हैं और मदिर तो मनुष्य मात्र की सपत्ति होती है इसलिए आपस के व्यवहार का ध्यान रखना बहुत जरूरी है। यदि व्यवहार का उचित ध्यान

न रखें तो सारा मामला वैसे ही विगड सकता है जैसे बना बनाया हलवा मुट्ठी भर वालू के मिला देने से विगड जाता है।

हम वहाँ इसलिए जाते हैं कि मन में सहज ही उत्पन्न होने वाले विषयो और कषायो को रोका जा सके। यहाँ आकर भी इनको कम न करे और उल्टे तीव्र-तर बनाये तो हमारा आना ही निरर्थक है। मैले कपडे को तालाव पर साफ करने के लिए जाते हैं। यदि साफ न किया उल्टा अधिक मैला किया, तो फिर हम बुद्धिमान कैसे ?

मदिर प्रवेश के साथ-२ हम यह प्रतिज्ञा कर लें कि हम कि ी पर क्रोध नही करेंगे, हुक्म नही चलायेंगे, रौब नही झाडेगे और बडा धैर्य व विनय रखेंगे। हो सकता है किसी से भूल हो जाय। ऐसे स्थान पर हमारे लिये शान्ति रखना उचित है।

मदिर में प्रवेश के वाद किसी भी वाद-विवाद के विषय पर या गृहस्थ सम्बन्धी झगडो इत्यादि पर हम कुछ भी वातचीत करे। इसलिए अच्छा यही है कि हम विशेषकर मौन ही रखें। यदि कोई ऐसा ही प्रसग उपस्थित हो जाय कि किसी से कुछ वात कहनी पडे तो सक्षेप में धीरे से कह दें ताकि हमारे कारण दूसरो का ध्यान जरा भी इधर-उधर न बटे। औरो का ध्यान रखते हुए हम प्रत्येक कार्य को शीघ्र समाप्त कर लें,चाहे वह स्नान का हो अथवा पूजा का। इससे अन्य भाई यही समझेगे कि हमने उनका भी वडा ध्यान रखा। यदि हम प्रमादवश आवश्यकतासे अधिक समय लगाते है तो दूसरे भाइयोके मनो मे हमारे प्रति असतोष यानी कषाय पैदा हो सकता है जो किसीके लिए अच्छा नही कहा जा सकता।

सम्भव है हमारे भाई उपयोग की कमी के कारण, पूजा इत्यादि करने मे अधिक समय ले लें और हमें पूजा करके किसी कार्य वश जल्दी जाना है तो उत्तम यही है कि द्रव्य-पूजा किये विना परमात्मा की जय वोलते हुए,भा न पूजा करके ही चले जाँय, अपेक्षाकृत इसके कि धक्का-मुक्की करते हुए पूजा करके जाँय। हम पहले आयें हो तब भी पीछे आनेवाले भाइयो को यदि पहले ल भ लेनेके लिए प्रार्थना करें तो हमारा प्रेम इतना अधिक वढेगा कि क्या कहे। वहुत सम्भव है वे इस प्रस्ताव को स्वीकार ही न करें। यदि कर लें तो हमे अहोभाग्य मानना चाहिए कि उत्तम कार्य में हमें एक भाई को सहयोग देने का मौका मिला।

जल, पुष्प या केसर-चन्दन कम हो तो हमे बडे विवेक और सतोष पूर्वक बहुत ही कम पदार्थो से काम निकाल लेना चाहिए। ये सब वस्तुएँ परमात्मा के चरणो में ही अर्पण की जाने वाली है। हम अर्पण करे तो क्या, और दूसरे भाई करें तो क्या। हम ही चढावे ऐसा आग्रह हमारे दिलो मे उत्पन्न ही न हो। इन पर तो सभी भाइयो का समान अधिकार होता है। इसलिए हमे शान्ति रखना उचित है। परमात्मा के बहुमानमे दूसरो द्वारा चढता हुआ या चढा हुआ पदार्थ देखकर भी हम उत्तम भावना का उपार्जन कर सकते है। जब थोडे पदार्थो से काम निकाला जा सकता है फिर अन्य भाइयो के मनो मे क्यो उचाट पैदा करे और क्यो उनके अतराय के कारण बने। सभी कार्य हम खूब हिल-मिल कर करे।

पर्व के दिन यदि पूजा करने वाले भाइयो की भीड अधिक हो जाय, तो रोज न आने वाले भाइयो को पूजा करने का पहले मौका देते हुए हमें हर प्रकार के सुन्दर व्यवहार से उनका आदर करना चाहिए ताकि उनका मन फिर पूजा करने के लिये लालायित हो।

मूल-नायकजी के सामने दर्शन या चैत्यवन्दन करने वाले भाइयो की भीड अधिक हो तो हम उनकी पूजा करने मे बहुत थोडा समय लगावें। वहाँ नौ-अगो की पूजा न कर, एक अगूठे की पूजा मे ही सतोष मान ले। इसका कारण यह है कि वहाँ मूर्ति बडी होती है और सजावट भी अधिक। इसलिए अल्प जान-कारी रखने वाले भाई सहज ही उधर अधिक आकर्षित हुआ करते है। वस्तुत भगवान की मूर्ति तो सब जगह एक समान ही है। इसलिए समझदार तो दूसरी जगह रक्खी मूर्तियो से भी वैसा ही लाभ उठा सकते है। अत मूल-नायकजी के वहाँ अधिक समय लगाकर दूसरो के अतराय या कषाय का कारण न बनना ही उचित है।

कोई भाई परमात्मा को नमस्कार करता हो तो हम उसके सामने से लापरवाही पूर्वक न निकले। दूसरा रास्ता न होने के कारण यदि हमारे लिए जाना जरूरी हो तो हमे बडे विनय के साथ झुककर शीघ्र धीरे से निकल जाना चाहिए ताकि उनकी भक्ति मे अतराय उत्पन्न न हो। इसी तरह कोई भाई स्तुति करता हो तो उस समय हमें अधिक उच्च स्वर से नही गाना चाहिए। बात-बात में हमें यही

ध्यान रखना उचित है कि हमारे कारण किसीकी प्रभु-भक्ति में जरा भी अंतराय न पड़े और न किसी प्रकार से कषाय ही उत्पन्न हो।

आपस का प्रेम बढाने के लिए हमे क्षमावान होना जरूरी है। किसी से भूल हो जाय, कोई अविनय कर बैठे तो भी हमे क्षमावृत्ति रखनी चाहिए। वास्तव मे इसे हम अपना परीक्षा-काल ही समझें। हमे समाज के साथ रहकर कार्य करना है।

अपना आंतरिक ध्यान —पूजा में हम अपना भी पूरा-पूरा ध्यान रखे। हमें अपने आप से भी बडा धोखा होता रहता है। 'मान' हमारा जबरदस्त धोखा करता है। उसके कारण पूजा से हमे जितना लाभ पहुँचना चाहिए उतना पहुँच नही पाता और उल्टे कभी-२ हानि हो जाती है। अपनी बढिया पोशाक, रगीली केसर, उत्तम चढावा, सुन्दर रूप, खिलता यौवन, ज्ञान गरिमा, सुरीले कठ विपुल समृद्धि आदि से सम्बन्धित अनेक प्रकारका अभिमान हमारे जी में आ ही जाता है। हम अपने आप को दूसरो से बहुत अधिक समझने लगते है। दूसरो से प्रशसा प्राप्त करने के लिए या उन पर रौब डालने के लिए अनेक तरह की हरकते हम जानबूझ कर करते है। वस्तुत ये भाव हीरे को कौडी के बदले बेचने के बराबर है।

हमें अत करण से प्रसन्नतापूर्वक परमात्मा का गुणगान करना है। न किसी से वाह-वाही लूटनी है, न अपना वैभव ही दिखाना है। हृदय के ऐसे भाव अत्यन्त अहितकर होते है।

पूजा मे गाने के समय प्राय हम बहुत कम उपयोग रखते है। कठ हमारा सुरीला हो अथवा न हो, राग ठीक से आती हो या न आती हो और परमात्मा की भक्ति दिल में हो अथवा न हो, आगे होकर गाने मे हम बडी शान समझते है। क्या साथ-२ गाने से परमात्मा मे हमारा अनुराग नही बढेगा ? ऐसे तो मदिर मे पाँच मिनट भी बैठकर हम नही गायेंगे पर जहाँ समाज इकट्ठा होकर पूजा इत्यादि का कार्यक्रम रखेगा वहाँ लड-झगड, ताल को वेताल कर गायेंगे जरूर। मानो परमात्मा के भक्त तो हम ही है। वस्तुत यह अपने वैशिष्ट्य का प्रदर्शन मात्र ही है।

यदि हम गाना बहुत अच्छा गाते हो और समाज गाने के लिए आग्रह करे तो

हमें तुरन्त वह बात बहुमान पूर्वक माननी चाहिए। ज्यादा विनती करवाना और तब गाना, यह भी उचित नही। अभिमान रहित, कपट रहित, बडे ही भाव और सरलता पूर्वक हमे परमात्मा के गुणो की तरफ बढना है और दूसरे भाइयो को भी इस तरफ बढने मे सहायता देनी है।

एकान्त रूपेण यह कभी स्थिर नही किया जा सकता कि अमुक कार्य हमे मन्दिरमे करना चाहिए और अमुक नही, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि दूसरे भाइयो को क्लेश, अतराय या कपाय उत्पन्न न कराते हुए और न खुद करते हुए सबके साथ प्रेम बढे और परमात्मा के गुणो में अनुराग जागे,ऐसे ही अवलम्बन हम ले। हमे समझ लेना है कि यह परमात्मा की पूजा नही,यह तो अपनी पूजा है यानी इसमे हमारी अपनी महान् भलाई छिपी हुई है।

इस तरह मन को स्थिर रख सके तो अति उत्तम है पर जैसा हम देखते है मन को रास्ते पर रखना बडा ही विकट है। वर्षो तपस्या करके साधे हुए मन का भी वात-की-बात मे ही पतन हो जाता है। जब-२ हमारे मनका पतन हो इसे ऊँचा उठानेका सतत् प्रयत्न हम चालू रखे। यही प्रयत्न करना मूर्ति-पूजा का मुख्य उद्देश्य है। परमात्मा की मूर्ति को देख कर उनके परम गुणो को याद करते हैं, उनकी प्रशंसा करते है और अपने मन की कमजोरी को लतेडते है। यदि अभिमान के कारण मन पतन की ओर गया हो तो उसे समझाते है–"छि. छि क्या कर रहा है? किस बात का तुझे अभिमान है? साहिबी का, रूप का, पडिताई का, ताकत का? भूल कर रहा है। यह तो ससार का एक क्षणिक नाटक मात्र है। फिर भी इतना अभिमान, धिक्कार है! जब महापुरुषो ने ऐसा अभिमान नही किया फिर तू ऐसी भूल क्यों कर रहा है?" इसी तरह परमात्मा के क्षमा-गुण की सराहना करते है और अपने छिछलेपन को या बदले की भावना को धिक्कारते हैं।

इस परम मागलिक प्रयत्न मे यदि किसी की भूल या दुष्टता पर क्रोध आ जाय तो हमें शीघ्र सभल जाना चाहिए। सोचना चाहिए—

"मैं यहाँ क्या करने आया हूँ? जहाँ मेरा लक्ष्य आत्मा में सयम उत्पन्न करना है, वहाँ मुझको किसी पर किसी भी तरह का कषाय करना कदापि उचित नही। माना कि किसी ने मेरे प्रति अन्याय किया है। अन्याय क्यो सहन

करूँ ? पर नही, मेरी वलिहारी सहनशीलता ही में है। आखिर, मैं किस प्लेट-फार्म पर हूँ" यह मदिर है, मदिर ! मन को साधने आया हूँ। परमात्मा के जीवन पर जव दृष्टिपात करता हूँ तो मालूम पडता है कि इससे भी अनेक गुणा अधिक अन्याय उनके साथ किया गया, पर वे अपने विचारो से जरा भी विचलित नही हुए। खूब वीरता पूर्वक उसे सहर्ष सहन किया। तभी आज दुनियाँ उनके चरणो पर मस्तक झुकाती है। उनके जितना तो कहाँ, उनकी मूर्ति जितना सम्मान भी, अपने जीवन मे वहुत कम पुरुषो को मिलता है। यह सव उनके महान् गुणो ही का वोलवाला है। फिर मैं भी ऐसा ही वनने की चेष्टा क्यो न करूँ। मुझे भी हर समय क्षमावान् और शान्त रहना चाहिए।"

वहनो की तरफ देख कर भी मन मे विकार उत्पन हो सकता है। यहाँ भी हम खूव सावधान रहे। तभी हमारा वचाव हो सकता है। सोचना चाहिए-

"ऐसी वुरी भावना ही तो मेरे पतन का मूल कारण है। फिर मैं अपने पतन को क्यो न्योता दे रहा हूँ। मवाद, खखार, दस्त, वदवू, रोग आदि से भरी इस देह को टकटकी लगा कर क्या देख रहा हूँ ? क्यो अपने तेज को मिटा रहा हूँ ? यह क्या अनर्थ सोच रहा हूँ ? तीर्थंकर भगवान कैसे निष्काम रहे। मनुष्य-भव रूपी चिन्तामणि को काग उडाने मे क्यो व्यर्थ खो रहा हूँ। नही, ऐसे महा-पुरुषो की सतान होकर, मैं इतना नही गिरूगा। मैं इतना अशक्त कभी नही वनूगा।" इस तरह के शुभ-चिन्तन से सभव है हमारा वचाव होता रहे।

परमात्मा की शान्त मुद्रा को देख कर हम सोचें—

"हे मेरे प्रभु ! सहसा विश्वास नही होता कि आपने इतने चचल मन पर विजय प्राप्त कर ली। आप धन्य हैं। हे दया-सिन्धु ! क्या मैं भी इस दल-दल मे निकलने में समर्थ हो सकूगा ? कार्य वडा ही दुष्कर है। अनुमान से आशा नही है, कारण मैं तो दिन-२ दल-दल में धँसता जा रहा हूँ। हे करुणा-निधान ! मेरे हृदय में कपायो का महा घोर अँधड चल रहा है, विपयो की अथाह धारा वह रही है। आप जैसा वनना तो असम्भव-सा लग रहा है।

हे नाथ ! अनन्त वेदना और यत्रणा सहते हुए वडी कठिनता से अनन्त समय बाद तो यह मनुष्य भव मिला है। मेरा जीवन वहुत छोटा है। कौन जाने आगे

किस योनी मे जन्म लूंगा ? महापुरुषो के गुणो की प्रशसा करने का अवसर भी मुझे मिलेगा या नही ?

हे क्षमासागर ! मुझे अत्यन्त खुशी है, कि आप जैसे वीतराग महाप्रभु के गुणो की प्रशसा करने का इस जीवन मे यह अवसर मिला हैं और आपके परम शान्त स्वभाव का मै आस्वाद कर रहा हूँ। फिर यह सुयोग मिलना बडा कठिन है।

हे जिनेन्द्र ! जितना हो सके मै आपके समता रस रूपी अमृत का पान कर लू और अपने भवोभव की मान, अभिमान और काम वासना की इस भयानक दावाग्नि को थोडी देर के लिए कुछ तो शान्त कर लूं।

हे देवाधिदेव ! असलियत को समझता हुआ भी मै असलियत पर कायम नही रह सकता, यही मेरे लिए एक विकट दुविधा है। हे स्वामी ! बाहर तो अशान्ति की ज्वाला जल रही है। यहाँ आपके परम शीतल मुखारविन्द को निरख कर मुझे बडी सान्त्वना मिली है।"

इस प्रकार जिनराज भगवान की शान्त मूर्ति को देखकर हम अनेक प्रकार से चिंतन करना और मन पर प्रभाव डालना सीखें। परमात्मा में—"कितनी शान्ति, कितनी क्षमा, कैसी शान्ति, कैसी क्षमा,"—इस रट से अपने हृदय-घट को जितना भर सकें, शीघ्र ठसा-ठस भर लें। आगे भवो-भव मे यह दर्शन हमारे लिए बहुत काम आयेगा। इस तरह के प्रयत्न से हमारा चचल मन थोडा बहुत अवश्य सुधरेगा।

इस तरह हम अनेक प्रकार से परमात्मा के गुणो की प्रशसा और हमारे अवगुणों की निंदा करते हुए, मन की रुचि, गुणो की तरफ झुकाने और अवगुणो से हटाने की, बना सकते हैं। असल मे मन पर चाबुक लगाने या अकुश जमाने की कला को सीखते हुए हम उसमे प्रवीण हो सकते हैं।

लाभ के अन्य उपाय :—कहा जा सकता है कि इस तरह की प्रवीणता तो परमात्मा के चित्र के सहारे भी प्राप्त हो सकती है। फिर मदिरो की क्या आवश्यकता है जो 'प्रबन्ध' और 'सम्पत्ति' के निमित्त, समय-२ पर कलह या चिन्ता के कारण बन जाते हैं और बन जाते है—बहनो और भाइयो के साथ-२ इकट्ठे होने से;—'विषयों' के भी कारण।

लाभ चाहे किमी महारे मे हो, होना चाहिए लाभ। नाम, चित्र, या मूर्ति के सहारे मे प्राप्त लाभ को हम परख सकते हैं कि उनमें काफी अतर है या नही ? हमारे तो यही समझ में आता है कि नाम या चित्र मे अनेक गुणा अविक लाभ हमे मूर्ति मे पहुँचता है।

घर पर भी जिनराज भगवान की प्रतिमा रखकर हम यह लाभ उठा सकते हैं और कई उठाते भी हैं पर समुदाय के महयोग मे जो विशेप लाभ प्राप्त होता है वह प्रत्येक को घर पर नही हो सकता। घर पर तो खर्च भी वहुत अविक पड जाता है जिसको सावारण स्थिति वाला व्यक्ति वहन नही कर सकता।

जव हम मव मम्मिलित होकर पूजा करते हैं तो हमें भी वहुत अधिक आनन्द और लाभ की प्राप्ति होती है। यहाँ मभी का एक ही काम 'परमात्मा का गुण-गान करना' है। ध्यान इधर-उधर चला भी जाता है, तो भी शीघ्र सभलने का अवमर मिल जाता है। मतलव यह कि एक दूसरे के सहयोग और देखा-देखी मनमें अविक उमग और उल्लास उत्पन्न होने के कारण हमे हमारे उद्देश्य में वहुत अविक मफलता प्राप्त हो जाती है। हमें समाज के साथ ढग से रहना भी तो मीखना है। ममुदाय की कृपा मे यह अभ्यास भी हो जाता है। फिर भी यदि किसी की रुचि भिन्न हो या ऐमे सुयोग की प्राप्ति न हो मके, तो वात भिन्न है।

अव रही विपयो और कपायो के वृद्धि की वात सो निश्चय ही हमे इनसे घृणा होनी चाहिए। परन्तु जव तक हम इनके असली कारणो का पता नही लगा लेंगे, हम अपना उचित सुवार या वचाव कभी नही कर सकते। किमी भाई की जरा-सी कमी या भूल को देखकर हम शीघ्र पूजा, प्रतिक्रमण, व्याख्यान या धर्म को ही वुरा ममझ लेते हैं और यहाँ तक कि उन्हे छोड वैठते है पर यह हमारा सही निर्णय नही कहा जा सकता। वालो के वढ जाने पर, उनको न काट कर, मस्तक को काट डालना अच्छा नही। 'मन्दिर'—हमारे विपयो और कपायो के कारण हैं', ऐमा मान लें तो हमारी वडी भारी भूल होगी। मदिर छोड देने मे हमारे कलह और विपय शान्त हो जायेंगे, ऐसा भी सभव नही है।

जो मन्दिर, मस्जिद कुछ भी नही मानते है कलह या अन्य अवगुण तो उनमें भी विद्यमान है। फिर मन्दिर को ही दोप क्यो दे ? कपायो और विपयो के कारण हमारे मन्दिर नही हैं। इनका असली कारण है हमारे विवेक और उपयोग

की कमी और हमारे मन की कमजोरी। जब हमने मन पर नियन्त्रण रखना सीखा ही नही, तब हम ऐसी विषम स्थिति को कैसे रोक सकते है ?

मन्दिर मन को नियंत्रित करने की एक स्वाध्यायशाला है। मन्दिर मन के गुप्त रोगो का एक मुफ्त इलाज है। यह आत्मा को सबल बनाने का एक साधन है। अन्य स्थानो पर हम उपायो का अनुभव ही प्राप्त करते हैं पर मन्दिर हमारा अभ्यास क्षेत्र और कर्म-क्षेत्र दोनो है। यह कषायो और विषयो को बढाने वाला नही, उनसे निवृत्ति दिलाने वाला स्तम्भ है।

कषायो का निवारण :—कषायो और विषयो की जो समय-२ पर वहाँ भी वृद्धि हो जाया करती है, उसका कारण मन की कमजोरी ही है। जब तक मन सबल नही होता यह हानि रुकती नही और इधर आत्मा को सबल बनाने वाले इस प्रयत्न को त्यागना भी उचित नही। इसलिए हमे पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

विषय-वासना या विकार उत्पन्न न हो इसके लिए स्त्री-पुरुष दोनो ही यदि उपयोग रखे तो ज्यादा अच्छा हो। प्रत्येक को अपनी-२ दृष्टि संभाल कर रखनी चाहिए। स्त्रियो का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी वेश-भूषा मदिर के लिए बिल्कुल सीधी-सादी रखे। ऐसी तडकीली-भड़कीली पोशाक, जिससे मनुष्य आकर्षित न होता हो तो भी आकर्षित हो, पहन कर मदिरो मे कदापि न आवे। पोशाक स्वच्छ जरूर हो, पर पाँच मनुष्य देखे या अंग-प्रत्यग दीखे ऐसी भावना से पहनना उचित नही है। स्त्रियो पर तो उनके शरीर की बनावट के कारण भी, बहुत बडी जिम्मेवारी आती है। यदि वे जरा गभीरता और विवेक से काम ले तो पुरुषो को भी सुधारने मे बडा सहयोग मिल सकता है और मगलमय कार्य को सब बहुत अच्छी तरह कर सकते है।

बहनो को देख कर ही यदि विकार उत्पन्न हो जाता है, तो क्या किया जा सकता है ? इस ससार को छोड कर वे जायेगी कहाँ ? उपाश्रय, मोहल्ला, गाव यानी सभी जगह वे रहेंगी ही। फिर मदिरो में ही उनके आने का इतना भय क्यो ? उनका मदिरो मे आना बद करना भी तो उचित नही ठहरता। उनका सुधार भी हमारे सुधार के समान ही महत्वपूर्ण है। इतने पर भी यदि स्थिति अनुकूल न बने, तो हम अपने मदिर आने-जाने के समय को थोड़ा आगे-पीछे भी रख सकते है। विवेक और उपयोग से ही यह समस्या हल हो सकती है।

कषायो के कारणो को भी हमें विवेक पूर्वक रोकना चाहिए। आजकल मदिरो में या मदिरो के लिए कलह अधिक हो रहा है, यह हमे मानना पडता है। वास्तव मे यह बहुत बुरा है। इसको देखकर यदि कोई वहा जाने से घृणा करने लगे और जाना छोड दे तो उसको दोष नही दिया जा सकता। कलह मे महान् कषायों का ही उदय होता है जो हमारे लिए कभी हितकर नही है। मदिरो का यही महत्व है कि हमे कषायो से निवृत्ति प्राप्त हो।

"आजकल कलह कहां नही है? मदिरो मे भी यदि कलह हो गया, तो क्या खास बात हो गई? मदिर भी आखिर इसी ससार मे हैं।" ऐसी दलीले कभी स्वीकार नही की जा सकती। फिर दूसरे ठिकानो मे और मदिरो मे कोई फर्क नहीं रहेगा। दूसरो की गलती या कमजोरी को आगे रखकर अपनी गलती या कमजोरी की भयकरता को कम समझना, छिपाना या समर्थन करना कदापि उचित नहीं। औषधि मे ही यदि रोग बढे, तो फिर उस औषधि का महत्व ही क्या?

उचित यही है कि हम अपनी कमजोरी समझे,उसे स्वीकार करे और उसे दूर करने के उचित उपाय अपनावें। हमारा यह परम कर्तव्य है कि कम-से-कम हम अपने पवित्र मदिरो को तो इस कलह रूपी महान् कीचड से अछूता रखें। हमें कलह के कारणो को ढूढकर उनका उचित निवारण करना चाहिए।

मदिरो मे कलह के मुख्यतया दो कारण हैं,एक विधि-विधान का और दूसरा उसके उचित प्रबन्ध का। कुछ कलह का कारण, पूजा के समय हमारे उपयोग की कमी भी है, पर वह कलह प्राय हल्का और क्षणिक होता है।

पहला कारण तो पडितो की मेहरबानी का ही फल है और दूसरा कारण हमारी 'शिथिलता' से सम्बन्धित है। पहला कारण तभी दूर हो सकता है जब हमारे मे पूर्ण ज्ञान और विवेक जागे। हम पडित लोगो को भी अपना उपदेश वापिस लेने के लिए समझा सकते हैं। सक्षेप मे उन्हें इतना कह सकते हैं कि मदिर का विधान हमारे कषायो को कम करने के लिए है, विषयो को छुडाने के लिए हैं, उन्हे तीव्र करने के लिए नहीं। हम आपके ऐसे एक भी उपदेश को नही मान सकते जिससे हमारे उद्देश्य को ठेस पहुँचती हो। जब मदिर प्राणी मात्र के है और जब प्राणी, प्राणी की रुचि भिन्न होती है, फिर हमारी अपनी खीच-

तानें ही किस बात की। तब पंडित लोग भी अपने हठ का त्याग कर देंगे और अपेक्षा से हर क्रिया के लिए उदारता अपना लेंगे। इस तरह यह कलह समाप्त किया जा सकता है।

दूसरा कारण, जो हमारी 'शिथिलता' से सम्बन्धित है, हमारे लिए गभीर विचार का विषय है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने-अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरुक रहे तो कार्य मे शिथिलता व्याप्त ही नही होगी। पर मदिरो के कार्य में शिथिलता आ ही जाती है। कहावत है 'सीर की मा को सियालिये खाते है, 'या अधिक मामो का भानजा भूखा रह जाता है'। वही यहाँ भी चरितार्थ होती है। सोचने वाला सोच लेता है, "मदिरो की व्यवस्था तो करनेवाले करते ही है, वडो के बैठे इसमे मेरे हस्तक्षेप की आवश्यकता ही क्या है?" ऐसा विचार वह कोई विनय भाव से नही अपना रहा है बल्कि व्यवस्था के परिश्रम से बचने के लिए ही यह वहानेबाजी है। तब हमे सोचना चाहिए कि सभी यदि इसी प्रकार सोचने लग जायँ तो मदिरो की रक्षा और व्यवस्था कैसे सभव होगी? यदि हम मदिरो से लाभ उठाना चाहते है तो अपने हिस्से का कार्य हमे करना ही होगा।

फिर भी कार्य करना समाज की इच्छा पर ही निर्भर है। इसमे किसी की जोर जबरदस्ती नही चल सकती। जब हमारी समझ में यह आ जाय कि समाज के लोगोकी कार्य मे रुचि कम होती जा रही है या किन्ही कारणो से वे समय नही दे पा रहे है तो उचित यही है कि कार्य के फैलाव को सीमित करते हुए हम उसे समेटते चलें। यदि हम गौर से देखें तो मदिरो की यह भी एक विशेषता मालूम पडेगी कि उनके कार्य को जितना सीमित करना चाहे हम कर सकते है। फिर हम विवेक से क्यो न उचित उपाय अपनावे। हमे दुख पाने की कोई आवश्यकता ही नही है। अच्छी साहिवी है तो मन भर फूलोसे पूजा कर सकते है, गरीव हैं तो फूल की एक पखुडी भी यथेष्ट है। अवकाश है तो रात-दिन स्वाध्याय में लग सकते हैं। कार्यवश अवकाश नही है तो पाच मिनट ही सही। मिला, उतना ही लाभ।

यदि हमारा गाव छोटा है तो एक झोपडी में परमात्मा की छोटी सी प्रतिमा स्थापित कर उसी से काम चला लेना हमारे लिए लाख गुना अच्छा है अपेक्षाकृत

इसके कि बडा और सुन्दर मदिर बनाने के लिए बाहर के दूसरे भाइयो से सहायता लें। इस तरह मूल्यवान मदिर बनाना उचित नहीं। मदिर कैसा भी क्यो न हो, काम तो मूर्ति से है। मूर्ति बडी हो तो क्या, छोटी हो तो क्या ? धातु की हो तो क्या, पाषाण की हो तो क्या ? मूर्ति के मूल स्वरूप में कहीं भी कोई अन्तर नही होता। परमात्मा की प्रत्येक मूर्ति बडी सौम्य होती है। फिर हमारे लिए कमी ही क्या ? क्यो किसी के आगे जाकर हाथ पसारें और दीन बने ? माग-माग कर लाना तो उनके साथ हमारी जबरदस्ती भी हो सकती है। इस तरह के चदो से वे ऊब सकते हैं। हमारे कारण,हमारे किसी भी भाई के मन में जरा भी सकोच या क्लेश न हो हमे बराबर यही ध्यान रखना चाहिए।

उचित यह है कि प्रत्येक गामवासी अपने मदिर की आमदनी मे से कुछ बचा-कर अपने तीर्थराजों को सहायता भेजा करे पर देखते यह हैं कि आजकल हम गाव वाले ही, तीर्थों के सामने,अपने ग्राम के मन्दिर की मरम्मत के लिए हाथ पसारते रहते हैं। कइयो की धारणा है कि जब तीर्थों मे पैसा व्यर्थ पडा हो, उसका दुरुपयोग होने लगा हो या नष्ट होने की स्थिति उत्पन्न हो गई हो तो अच्छा यही है कि अशक्त गावो के मदिरो के जीर्णोद्धार मे लगा डाले। हमारे विचार से इस तरह सहायता देना या लेना हानिप्रद होने के कारण इस धन को हमें देवगत या राजगत सकट के समय और वह भी सिर्फ उधार रूप मे ही लेने के सिवाय साधारण अवस्था मे लेना ही नही चाहिए,चाहे तीर्थ का धन नष्ट होता हो या गाव का मदिर। हमें यही सोचना है कि हमारी यह मागने की स्थिति क्यो उत्पन्न हो गई ? इस तरह हम अपने तीर्थों को ही भिखारी बना डालेंगे। आज तीर्थों की सहायता से मदिर खडा रख लेंगे,कल तीर्थों मे ही धन न रहा तब ? यदि आगे सभल जाने का आश्वासन देते हैं तो वह भी गलत है। इतने वर्षो मे हम क्यो नही सभल पाये ? विचारना यही है कि आज हम सहायता मागने की इस स्थिति में क्यो पहुँच गये ? तीर्थ दूसरे तीर्थों की सहायता कर सकते है पर ग्राम-मदिरो को सहायता पहुँचाना अव्यावहारिक लगता है। बच्चे के सयाना होने के बाद, दूसरो की सहायता पर जीना, चाहे वह अपने माता-पिता की सहायता ही क्यो न हो, उसकी आन, मान और शान के खिलाफ है।

पूर्व मे मदिर अधिक बने हो, बाद में गाव छोटा पड गया हो और अब गाव

वालो से उनके खर्च न चल सकते हो या सभाले न जा सकते हो तो आवश्यकता से अधिक मदिरो को बद कर देना ही अच्छा है। यह सुनने मे बहुत अटपटा लगता है कि बनाने वालो ने तो बनाये और आज हम बद करने का कह रहे हैं या सोच रहे हैं। इस तरह तो हमारे सभी मदिरो में ताले पड जायेंगे। पर नही, हमे स्थिति को समझ कर हो चलना पडेगा। दस अव्यवस्थित मदिरो को खुला रखने की अपेक्षा दो व्यवस्थित मदिरो को खुला रखना ज्यादा अच्छा है और इसी मे हमारे उद्देश्य की पूर्ति है। मदिर हमारे स्वाध्याय के लिए है। किराये-दारो से पूजवाने के लिए थोडे ही हैं। भविष्य मे आवश्यकता पडने पर मदिर बनाते कौन-सी देरी लगेगी।

किसी के मन मे हमारे कार्यो से जरा भी सकोच या उचाट पैदा हो गई तो समझ लोजिये अभी हमने पूजा के वास्तविक अर्थ को नही समझा है। यदि हम आर्थिक दृष्टि से अच्छो स्थिति वाले है तो हमे दिल खोलकर प्रभु-भक्ति मे अपना धन लगाना चाहिए। पर जो कुछ लगावे किसी पर एहसान न लादते हुए, अपनी पूरी प्रसन्नता एव बिल्कुल निर-अभिमान पूर्वक। यदि हम गरीब है तो हमे कम-से-कम में, लाभ उठाना सीखना चाहिए।

पूजा मे द्रव्यो के निमित्त या अन्य उचित व्यवस्थाओ के निमित्त जो भो खर्च हमारे हिस्से मे पड़ता हो और देने की हमारी शक्ति हो तो हमे नि.सकोच भाव से, कम-से-कम उतना तो दे ही देना चाहिए। सभव है मदिर मे इकट्ठे हुए करोडो रुपये पड़े हो और अभी व्यवस्था के लिए हमसे लेने की आवश्यकता न भी पड़ती हो या बहुत से श्रीमत अपनी जेब से अधिक धन देकर उस व्यवस्था को चला देते हो पर यह स्वीकार करना हमारे लिए उचित नही है। हमारी शक्ति रहते हम किसी का क्यो ले और क्यो अपने मे न देने की, या मुफ्तखोरी की आदत उत्पन्न होने दें। यदि हम अपने पेट की खुराक पचास रुपये निकाल सकते है, तो आत्मा की खुराक के लिए पाँच रुपये क्या न निकाल सकेंगे ? अन्य पर हम आश्रित क्यो रहे ?

हमारो तरह ओछी मनोवृत्ति रखते तो क्या कभी इतना धन इकट्ठा होता ? इकट्ठा हो गया है, वह तो कभी भी शेष हो सकता है। तब ऐसी प्रवृत्ति रखने वाले हम जैसो से क्या हो सकेगा ? हमारी व्यवस्था मे कितनी शिथिलता

आ जायेगी ? हमारी आय के हिसाब से यदि हमें केसर, चन्दन, प्राप्त होने की गुजाइश न हो तो कोई हर्ज नही, कलश में थोडा जल लेकर, परमात्मा में बहुमान उत्पन्न कर लेना ज्यादा अच्छा है बनिस्बत इसके कि हम दूसरो की सहायता पर खूब चदन घिसा करे।

इतने शुद्ध हेतु के लिए भी यदि हम कलह कर लेते है तो यह महान् दुःख की बात है। पूर्वजो के स्वच्छ नियमो की हमे अवहेलना नही करनी चाहिए। मदिर तो मनुष्य मात्र की सपत्ति है। इस पर सभी का समान अधिकार है। यहाँ जरा भी भेदभाव ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का प्रश्न ही पैदा नही होता। रग भेद के उत्पन्न होने का कोई कारण नही। जिन परमात्मा के हम उपासक हैं वे खुद ही गोरे, काले, नीले, पीले, लाल इत्यादि रगो के हुए है। यही नही, किसी भी बात का भेद-भाव हमारे महान् विवेकी पूर्वजो ने रक्खा ही नही है। घृणा की है तो अवगुणो से, पूजा की है तो गुणो की। शुद्ध समाज रचना की उनकी कितनी विशाल दृष्टि रही, यह हमारे सामने ही है। आज ससार के महान् लोग समाज रचना के सम्बन्ध मे खूब विचार करते है पर क्या ही अच्छा होता यदि वे हमारी इस समाज रचना पर भी दृष्टिपात कर लेते। हमें पूर्ण विश्वास है कि ऐसी समाज रचना से,अति अल्प काल में ही विकट से विकट समस्या बडी आसानी से हल की जा सकती है।

सु-व्यवस्था :—हमारे पूर्वजो ने मदिरो को शुद्ध सार्वजनिक सम्पत्ति माना है। जिससे सभी उसको अपना समझ सकें और उससे लाभ उठाने में या उसकी रक्षा करनें मे किसी के मन में जरा भी सकोच उत्पन्न न हो। करोडो रुपये लगाने वालो ने भी कभी अपना आधिपत्य नही जमाया। अपना नाम तक उसमें नही लिखवाया। आज तो हम मदिरो पर अपना-अपना अधिकार समझते है। यह सकीर्णता बहुत बुरी है। इस सकीर्णता को हमें दूर करना चाहिए। हम मदिरो की व्यवस्था मे अधिक भाग लेते है तो क्या हुआ ? हमारा किसी पर एहसान नही है या इससे यह सपत्ति हमारी नही बन जाती है।

हमारी सेवा का समाज उपकार माने या न माने, इसका हम जरा भी विचार न करें। मान तथा बडाई की भूख से किया गया कार्य उतना अच्छा नही होता जितना अपना हित और कर्त्तव्य समझ कर। हम हर समय यही ध्यान रखें—

"मै जो कुछ दे रहा हूँ या कर रहा हूँ अपने ही लिए कर रहा हूँ ।" यदि दूसरे इसकी सेवा करते हो तो हमें उससे जरा भी ईर्ष्या नही होनी चाहिए । हमे समझना चाहिए कि ऐसे भाग्यशाली पुरुषो के सहयोग के कारण हमे भी महान् लाभ की प्राप्ति हो रही है । इसलिए ऐसे पुरुष हमारे आदर के पात्र है ।

मदिर की व्यवस्था में कही शिथिलता नजर आवे तो वहाँ हम किसी पर क्रोध न करे । सोचे–"मै किस पर हुक्म चला रहा हूँ । मदिर तो मेरा भी है । व्यवस्था की शिथिलता का मै भी उतना ही दोषी हूँ जितना कि कोई दूसरा । यदि मेरे घर में भोज हो और व्यवस्था की कमी हो तो उस समय उस व्यवस्था की मै निन्दा करूँगा या उस कमी को दूर करने की चेष्टा करूँगा ? तब मन्दिर की व्यवस्था की शिथिलता को दूर करने का मुझे प्रयत्न करना है न कि किसी की भूलो का छिद्रान्वेषण ।" व्यवस्था से सम्बन्धित व्यक्तियो को हम अपनी राय शान्ति पूर्वक दे सकते है जिससे उनपर उचित प्रभाव पडे । हो सकता है किसी कारण से वे ठीक रास्ता न अपनावे तो शान्ति पूर्वक हम समाज का ध्यान उस ओर आकृष्ट कर सकते है । समाज के बहुमत के सामने उन्हे अन्याय या स्वार्थ का रास्ता छोडना पडेगा । असल मे हमारी शिथिलता ही इन सब कठिनाइयो की उत्पत्ति की जड है । हम मदिरो की व्यवस्था की जरा भी परवाह नही करते । हमें तो दूसरो से उत्तम सेवा चाहिए । दूसरो पर हुक्म चलाना और उनकी भूल निकालना ही हमारा धन्धा हो गया है ।

मदिरो की व्यवस्था की दृष्टि से हम ठीक ऐसा ही ख्याल रखे–"जैसे मदिर मेरी ही सम्पत्ति है । अधिक नही, तो कम-से-कम मेरे हिस्से का कार्य तो मुझे जरूर करना ही चाहिए । यदि मै इनसे लाभ उठाना चाहता हूँ तो व्यवस्था या रक्षा के कार्य से मुँह कैसे छिपा सकता हूँ ।"

इतना समझकर यदि हम अपने-२ हिस्से का कार्य करे तो कभी किसी बात का झगडा ही खडा नही होगा । झगडे का सारा दोष हमारी 'शिथिलता' को है । व्यवस्था की कमी या नोकरो या कार्य सभालने वाले अपने भाइयो द्वारा मंदिर की सपत्ति का गबन या दुरुपयोग देखकर हम बडी आलोचना किया करते हैं । 'यह नही हुआ', 'वह नही हुआ', या–'यह हो गया', 'वह हो गया' पर 'हुआ क्यो नही' और 'हो क्यो गया', इस पर ध्यान नही देते । यह हमारी

'शिथिलता' है कि काम को कभी देखते नही, सभालते नही और करते नही। जब कार्य विगड जाता है तब लगते है अपनी शेखी बघारने या बडिाई दिखाने। सबकी जब सपत्ति है तो मिल कर कार्य करने का तरीका उत्तम होता है।

लाभ उठावे और कार्य न करे तो हम समाज के ऋणी रह जाते है। इसलिए जितना कार्य हमारे हिस्से मे पडता हो उतना हमे विवेक पूर्वक जरूर करना चाहिए, अधिक चाहे न कर सके। अधिक काम हम तभी करे जब हमारा मन सोलह आना राजी हो। मन में दुख पाकर किया गया कार्य कभी ठीक नही होता। यह अंत मे जाकर हमारे कलह का कारण बन जाता है। पहले हम अधिक कार्य करते है फिर कम काम करने वाले या न करने वाले, भाइयो पर एहसान जताने लगते हैं या उन्हे भला बुरा कहने लगते है। यह बहुत बुरी आदत कही जा सकती है।

मन मे उचाट न हो कार्य करने की खुशी हो तो भी हमारा अधिक कार्य करना कभी-कभी इसलिए बुरा हो जाता है कि समाज के और लोग प्राय कार्य से निश्चिन्त हो जाते है और अपनी जिम्मेवारी को ही भूल बैठते है। फिर भविष्य मे हम न रहे या हमारा काम करने का मन या बल न रहा तो कार्य को भूकम्प का सा धक्का लगता है, या यह भी हो सकता है कि दूसरे भाइयो को कार्य करने का मौका न मिलने के कारण उनके मनो में अकारण ही हमारे प्रति कषाय या अविश्वास उत्पन्न हो जाय। इसलिए विवेक पूर्वक हमें कार्य उतना ही बढाना और करना चाहिये जितना हमारी अनुपस्थिति में भी सरलता पूर्वक चल सके और दूसरो को भी करने का मौका मिल सके।

कही-२ समाज की समृद्धि के कारण न चाहने पर भी मन्दिरो मे धन अधिक इकट्ठा हो जाता है। इसलिए यहाँ व्यवस्था की और अधिक आवश्यकता हो जाती है यानी हमारे लिए एक विशेष विपद् खडी हो जाती है। धन फेंका नही जा सकता और रक्षा करते हैं तो कार्य बढता है। एक तो धनवान लोग यो ही काम करने में सुस्त और दूसरे स्वार्थी लोगो की बुरी दृष्टि। यह ग्रह-दशा बडा घोटाला कर देती है। नौकर रखकर कार्य करवाते हैं तब भी व्यवस्था तो सभालनी ही पडती है। ऐसी स्थिति को जानते हुए भी यदि हम मदिरो के धन से, अधिक कारबार बढा कर, अधिक कार्य फैलावें तो वह कभी उचित नहीं

कहा जा सकता। मान लें कि आज सच्ची लग्न और सच्चाई से कार्य करने वाले मिलते है, कल न मिले तो ? या उन्ही के मन मे कोई स्वार्थ जाग गया, खोट आ गई तब ? मदिर के धन की दुर्दशा तो होगी ही, समाज की भी बदनामी होगी। लोगो का भाव मदिरो से उतर सकता है। मदिरो मे चोरी सुन-सुन कर लोगो पर विपरीत प्रतिक्रिया होती है। धन को देख कर स्वार्थ की भावना आ ही जाती है। इसी कारण, ऐसे धनी मदिरो का मुखिया बनने या बने रहने की बहुतो की भावना बन जाती है। बडे-२ चुनाव लडे जाते हैं। बड़ी-२ कोशिशे की जाती है। कभी-कभी मुखिया बनने के लिए मारपीट तक की नौबत आ जाती है। यह सब देखकर दिल दहलता है। इतनी शुद्ध परपरा में, यह अनर्थ ?

कभी-२ ऐसा भी देखने मे आता है कि कई भले व्यक्तियो की मुखिया बनने की भावना बिल्कुल नही रहती और न उनकी कोई स्वार्थ पूर्ण भावना ही होती है पर समाज के हित की दृष्टि से भी उन्हे मुखिया बन कर रहना पडता है। वे सोचते हैं–"यदि मै आज इस पद को अगीकार नही करूगा या पद त्याग दूगा तो महा अनर्थ हो जायेगा। स्वार्थी या अल्पज्ञ लोगो के हाथ मे बागडोर चली जायेगी और सत्ता पाकर वे अपनी मनमानी करके मन्दिर की सपत्ति को ही तहस-नहस कर डालेंगे या कार्य को ही नही सभाल सकेगे।" पर हमारे विचार से उनका ऐसा सोचना भी व्यर्थ है। आज तो वे इतनी चिन्ता करते हैं, कल वे ही इस ससार मे न रहे तब ? यदि उन्हें आशका है कि उनके कार्य-भार छोड देने से प्रलय हो जाये।। तो वह पीछे भी हो कर रहेगा। बेहतर यही है कि वे अपनी मौजूदगी में ही प्रलय को क्यो न आने दें ताकि इसके निवारण का उपाय भी वे हमे समझाते जॉय। इसलिए पद पर चिपके रहना, योग्य व्यक्ति के लिए कभी उचित नही होता उल्टे दूसरे व्यक्तियो मे योग्यता पनप नही पाती। कुछ ऐसे महानुभाव होते है कि जिम्मेवारी आ जाने पर अधिक अच्छा कार्य करने लगते है।

यदि हम बहुत योग्य हैं तो क्या हुआ ? पद छोड देने से न तो हमारी योग्यता नष्ट हो जाती है और न हमारी पूछ ही। पद दूसरे को सौंप कर तो हम एक और भाई में योग्यता पैदा करने में सहायक होते हैं और एक सहायक

पाकर कार्य की नीव को अधिक मजबूत बनाते हुए निश्चिन्त होते हैं। वास्तव मे निस्वार्थ भाव से सेवा करने वालो की, और अधिक योग्यता रखने वालो की पूछ तो बनी ही रहती है। पद पर कोई भी क्यो न आवे हमें प्रत्येक भाई पर विश्वास होना चाहिए। मदिर जैसा हमारा है, वैसा ही उनका भी है। इसलिए योग्य व्यक्ति को पद का मोह करना ही नही चाहिए और यथा समय पद को छोड देना ही उचित है। पद छोड देने मे सेवा थोडे ही छूट जाती है।

आजकल कलियुग मे बात ही दूसरी है। कई ऐसे भी महानुभाव होते है कि पाये हुए पद को छोडना ही नही चाहते। उनकी पद लोलुपता से ऊब कर या स्वार्थों से घबडा कर, जब समाज ही उनका पद जबरदस्ती छीन लेता है तो अपने अपमान से क्रुद्ध होकर, स्वार्थ भग से दुखी होकर या आने वाले कार्यकर्त्ताओ को यश एव सफलता न मिले और समाज फिर उन्ही की गरज करे-इन सब भावो से प्रेरित होकर वे सहयोग करने की जगह उल्टे हमारी इस परम मगल कृति का बुरा चाहने लगते है और बश चला तो बुरा कर भी डालते है। ये हमारे सबसे अभागे भाई है।

हमें मुखिया बनने की या बने रहने की भावना कभी नही रखनी चाहिए। योग्य हैं तो सब समय हम मुखियाओ के भी मुखिया है। फिर भी समाज आग्रह करे, एक का भी विरोध न हो, जिम्मेवारी को पूरी तरह निभा सकते हो तो अपने आपको मुखिया समझ कर नही, श्री सघ का सेवक, प्रभुचरणो का चाकर समझ कर उल्लास पूर्वक कार्य कर सकते है, पर बिल्कुल निस्वार्थ एव निर-अभिमान भाव से करें।

यह हमें बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि मदिरो की व्यवस्था का कार्य जितना ही सीमित हो उतना ही अच्छा है। धन अधिक बढ जाय तो उससे अधिक कारबार न फैला कर अच्छे बैंको या सुरक्षित सिक्युरिटियो मे ही रखना अच्छा है। अधिक आय के लालच मे अपने भाइयो को यह धन ब्याज पर देना उचित नही। कौन जाने, कब उनकी स्थिति बदल जाय और कौन जाने हमारी मति बदल जाने से हम स्वय ही अपने कमजोर सगे सम्बन्धियो को यह पैसा उधार दे बैठें, या और किसी अनुचित स्वार्थ में इसे फँसा डालें।

यदि धन सभलता नजर न आवे तो उचित यही है कि उसे अच्छे कार्यों में

खर्च कर डाले। हमारे मन्दिरो की पद्धति के अनुसार अधिक धन सग्रह कर रखने की कोई अवश्यकता नही है। हमारे घरो में जिस धन को हम सभाल रहे है, उसमे मन्दिरो का हिस्सा भी सम्मिलित ही है। फिर चिन्ता की क्या बात है, और क्यो यह सिर दर्द मोल ले। विशेष कर फड के लिए ही अधिक अफड मचते है।

परमात्मा मे अत्यधिक बहुमान होने के कारण हम परमात्मा की प्रतिमा को मूल्यवान जवाहिरात, सोना, चाँदी आदि गहनो से खूब सजाया करते है, पूजा इत्यादि मे बहुमूल्य उपकरण काम मे लिया करते है। निश्चय ही यह हमारा बहुत भावना-पूर्ण कार्य है। पर यदि समाज मे अधिक लोगो की अभाव-पूर्ण अवस्था बढ जाने के कारण या अनेको की अल्प समझ के कारण, उनके जी ललचाने लगे या वे उसे अनैतिकता से प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे, या आडम्बर समझ उनके जी मे खटकने लगें तो हमें शीघ्र सभल जाना उचित है। या तो उन्हे समझा कर उनके भावो मे सही गति ले आवे और नही तो परमात्मा को मन-ही-मन नमस्कार करते हुए कि हे नाथ! अभी इच्छा और शक्ति के अनुसार आपके बहुमान करने का अवसर न होने के कारण, थोडे ही से सतोष कर रहे हैं—ऐसे ठाठ-बाट को सीमित ही कर ले। इससे मन्दिर का धन बचेगा, भाइयो का चोरी से बचाव होगा, अन्य लोगो की टीका टिप्पणी और व्यर्थ के ईर्ष्या-द्वेष से भी बचाव होगा।

उत्सव-महोत्सव की व्यवस्था को लेकर भी कभी-२ आपसमे बडा मतभेद उत्पन्न हो जाता है और हम बुरी तरह लडने लगते है। वस्तुत इसका कोई आधार प्रतीत नही होता? जहाँ हमारा रत्ती भर भी घरेलू स्वार्थ न हो, वहाँ यह खीचतान किस बात की? लोगो का परमात्मा मे बहुमान बढे, वे उनके गुणो को अपनाये इसीलिए तो ये सब उत्सव-महोत्सव किये जाते हैं। दूसरो को अपना वैभव दिखाने के लिए थोडे ही किये जाते है। लोग वैभव की तडक,-भडक से एक बार अवश्य आकर्षित हो जाते है पर ज्योही वे हमारे झगडो, अहभाव एव उनके प्रति रूखा और तुच्छ व्यवहार देखते है,वे हमारे शुद्ध प्रयत्न को निरर्थक समझ, दूर भागने लगते है। उनका परमात्मा के गुणो के समीप आना तो दूर रहा उल्टे वे हमसे ईर्ष्या, द्वेष और घृणा करने लगते है। वे सोचते है कि इनके प्रयत्नो से इतने लम्बे समय के बाद भी जब इनके मामूली-मामूली अवगुण नही मिट सके तो हमारा इन प्रयत्नो से क्या भला हो सकता है?

सार्यकता तो तब समझी जाती जब और भाइयो की रुचि जैन धर्म के प्रति उत्पन्न करा सकते और यह सब तब होता जब हम क्षमा और शान्ति अपनाते हुए उन्हें समझाते कि यह सम्पत्ति हमारी नही, आपकी भी है, ये महापुरुप हमारे ही नहीं आपके भी हैं। आत्म शान्ति ही जीवन का सच्चा सुख है और इस अवलम्बन के अपनाने से प्रत्येक को आत्म-शान्ति मिल सकती है। वास्तव में इन सब बातो पर हम ध्यान ही नही देते। इतना शुद्ध हेतु, जो हमारे आपस के कलह को मिटाने के लिए है, उसी के लिए यदि हम कलह करते हैं तो अफसोस करने के सिवाय और हमारे पास बचता ही क्या है?

स्वाभाविक मतभेद:—कई मतभेद स्वाभाविक हो जाया करते है जिसके लिए हमें उचित समझ रखनी पडती है। यह मतभेद नही मनुष्य का एक सहज झुकाव ही है। जैसे कई पडित देवचन्द्रजी महाराज कृत स्नात्र–पूजा ही रोज बनाते हैं। वे इसके इतने अभ्यासी हो जाते है कि दूसरे आचार्यो की लिखित पूजायें उन्हे अच्छी ही नही लगती। मौका पडने पर वे दूसरी पूजाओ का विरोध कर बैठते हैं। हालाकि हम जानते है कि सभी प्रकार की पूजाये परमात्मा ही के गुणगान हैं। यही झुकाव आगे चलकर एक भेदभाव का रुप ग्रहण कर लेता है।

मारवाड का रहनेवाला, चावल के रहते, बाजरे की रोटी क्यो पसन्द कर लेता है? इसीलिए कि उसकी रुचि उसमें बन गई है।

ऐसी स्थिति में विवेक पूर्वक सभी की रुचि का ध्यान रखते हुए कार्य करना उचित है। किसी की आत्मा को क्लेश हो ऐसा कठोर कदम न उठावे और अन्य भाइयो मे भी सब तरफ थोडी-थोडी रुचि बढे ऐसी कोमल क्रियायें आगे रखते चलें ताकि धीरे-धीरे सब हिल-मिल जाँय।

बिना कारण ही आज अनेक प्रकार के मतभेद हमारे बीच व्याप्त है। एक भगवान को मानने वाले, एक भगवान की जय बोलने वाले, एक भगवान की आज्ञा में चलना स्वीकार करने वाले, एक भगवान में पूर्ण श्रद्धा रखने वाले और एक निर्मल उद्देश्य से कार्य करने वालो मे भी इतना कटु मतभेद? वाह रे भाग्य की विडम्बना!

विषय मनन का है:—इतना उच्च आदर्श होते हुए भी यदि हम उसको कायम न रक्खें और गौण बातो के लिए लडा करें तो इससे अधिक हमारी और क्या

भूल हो सकती है ? पूर्वजो की कृपा से हमारे मदिरो की आर्थिक नीवे इतनी मज-बूत वनी हुई है या वन जाती है जिसके लिए हमें कभी चिन्ता करने की आवश्यकता ही नही रहती।

"नित्य प्रति अपनी-२ शक्ति के अनुसार सव लोगो का कुछ-न-कुछ सहायता के रूप मे देना, कम-से-कम खर्च मे भी अच्छा काम चला लेना, गरीव से गरीव भाई को भी एक जैसा लाभ और सम्मान की प्राप्ति"--ऐसे उत्तम नियम है जो ससार के सामने समाज रचना का एक अति उत्तम आदर्श उपस्थित करते है।

मूर्ति-पूजा की महानता मे हमे जरा भी सन्देह नही। यह एक ऐसा सरल साधन है जहाँ हम अपने मन को अच्छे-से-अच्छे इच्छित साँचे मे ढाल सकते हैं। अशान्ति के कारणो से कैसे वचा जा सकता है, उन्हे कैसे दूर रक्खा जा सकता है, यह हम अच्छी तरह सीख सकते है।

इस लघु पुस्तिका में हमने कुछ विचार अभिव्यक्त किये है। विज्ञ जन और भी अनेक प्रकार से विचार कर सकते है। पूजा, परम पिता के गुणो मे रुचि पैदा करने का एक प्रभावशाली किन्तु सरल साधन है। परम पिता परमात्मा के इन गुणो मे न तो किसी का मतभेद है, न किसी का विद्वेष। इनसे समस्त दुविधाये शान्त पड जाती है। इन गुणो की अनुमोदना मात्र से इतना लाभ और आनन्द मिलता है कि रोम-रोम पुलकित हो उठता है।

लेखनी से उस आनन्द का उसी प्रकार वर्णन नही किया जा सकता जिस प्रकार हम पदार्थ के स्वाद को व्यक्त नही कर सकते। पदार्थ हम देखते है, स्पर्श करते है, सूघते है और खाते है पर उसके असली स्वाद को व्यक्त नही कर सकते। हम कह सकते है--शहतूत जैसा मीठा, चीनी जैसा मीठा, शहद जैसा मीठा, पर उसके असली स्वाद का पता उसको खाने ही से मिलता है। इसी प्रकार पूजा के आनन्द का पता भाव से पूजा करने पर ही मिलेगा। प्रभु-पूजा हमारी सफलता की कूजी वन सकती है यदि इसकी वास्तविक उपयोगिता को समझ कर इसे सही ढग से अपनावे।
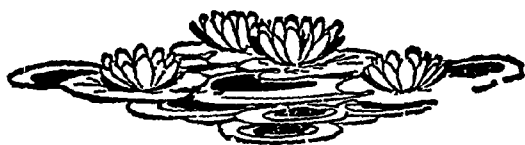
रस-सरोवर

जिन-चरणो में आत्म-समर्पण

"मोक्ष में विराजे परमात्मा हमारी कुछ भी सहायता नही करते। हित-अहित हमारे पुरुपार्थ पर ही पूर्णतया निर्भर है। फिर भी उन्हे निमित्त मानकर उपासना, वन्दना, भक्ति आदि करते हुए यदि सावना करे तो निस्सन्देह हमें अपूर्व मनोवल मिलेगा और मार्ग सरल होने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होगी। गुणी पुरुपो के वहुमान से हमारे गुण स्वत विकसित हो जाते है और यह व्यवहार हम अपना हित समझ कर ही अपनाते है। वस्तुत अप्रत्यक्ष-रूप से हमारे लिए यह एक वहुत वडा सहारा है ' '।"

इन्ही सव भावो को व्यक्त करते हुए परम पूजनीय गुरुजन, जिनराज भगवान के भिन्न-२ स्तवनो में अपूर्व रस-धार प्रवाहित कर गये है। प्रिय पाठको के अवगाहनार्थ थोडा-सा नमूना यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

"परमात्मा वहुत दूर मोक्ष पधार गये है। वहाँ तक पहुँच नही होने से, उनसे प्रीति करना किसी प्रकार सभव नही है। सभव भी हो तो भी प्रीति करना अच्छा नही कारण वह हमेशा के लिए विप से भरी होती है और परम-सुख में वाधक भी। ऐसी दशा में हे मेरे चतुर सज्जन! आप ही वतलाइये, परमात्मा से प्रीति कैसे करें, और क्यो करें?"

यह समझाते हुए उसी प्रीति को अपनाने के समर्थन में ऋपभदेव स्वामी के स्तवन में पूज्यवर श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज हृदय-ग्राह्य स्पष्टीकरण करते है—

प्रीति अनती पर थकी, जे तोड़े हो ते जोड़े एह।
परम पुरुष थी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह ॥ऋषभ०॥
ऋषभ जिणन्दशुं प्रीतडी—

परमात्मा से सासारिक तरीके से प्रीति करना भी इस अपेक्षा से अच्छा है कि अन्य ससारी जीवो से जो हमारी अनत-काल से प्रीति वधी हुई है वह छूट

जायेगी और हमारी प्रीति का सारा रूझान एक परमात्मा पर ही आकर टिक जायेगा। हम अनन्त से एक पर आ जायेगें। फिर प्रीति छोडनी रहेगी तो 'एक' से ही। इस तरह यह मार्ग सरल हो जायेगा। यही एक बहुत बडा लाभ परमात्मा की प्रीति मे समाया हुआ है इसलिए भविजनो को नि'सकोच भाव से परमात्मा से प्रीति जोडनी चाहिए।*

अजीतनाथ स्वामी के स्तवन मे महाराज फरमाते है—

अज कुल गत केसरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ते भवि लहरे, आतम शक्ति संभाल ॥अजित०॥
अजित जिन तारजो रे—

---

*(१) परमात्मा परम पुरुष हैं, गुणों के सागर हैं। हमें गुणों को अपनाकर ही विश्राम लेना है। इसलिए परमात्मा से प्रीति करना—गुणों ही से प्रीति करना हुआ अर्थात् हम सीधे गुणों पर ही पहुँचते है। इसलिए यहाँ सम्पूर्ण कार्य-सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में परमात्मा से प्रीति छोडने का भी कोई प्रश्न शेष नहीं रह जाता। जैसे—

अस्त्र प्राप्ति की इच्छा से यदि देव की आराधना करें और देव-दर्शन के पहले ही अस्त्र की प्राप्ति हो जाय—उद्देश्य पूर्ण हो जाय— तो 'देव-दर्शन' मिल गया, ऐसा ही समझा जाता है। दर्शन न हो तो भी कोई बात नहीं।

—०—

(२) 'राग और द्वेष' की परणिति को कम करने का उपाय समझना आवश्यक है। हम दोनो को एक साथ छोड़ने में समर्थ नहीं हैं। 'द्वेष' को कम करने के लिए, पहले हमें 'राग' को और अधिक मात्रा में अपनाना पडता है। जैसे—

मैले कपड़े में—इच्छा और आवश्यकता न होते हुए भी— पहले पानी और साबुन पहुँचाते हैं। जब मैल छँट जाता है तो पानी के सहयोग से मैल और साबुन को निकाल फेंकते है। फिर पानी को भी सुखाकर निकाल देते हैं। इस तरह विवेक पूर्वक अपना इच्छित मनोरथ पूर्ण करते हैं। यदि 'पानी और साबुन' को ग्रहण करना अगीकार न करें, तो क्या हम मैल को हटाने में सफल हो सकते हैं ? इसी तरह मुमुक्षु प्राणियों को समझना चाहिए कि राग को अपना कर ही वे द्वेष को हटाने में सफल हो सकते हैं।

"आपके अनन्त गुणो को याद करके मेरी आत्मा मे दवे वैसे ही गुण, उसी तरह विकसित हो आये जैसे सिह की गर्जना सुन कर सिह के बच्चे में, (जो भेडो मे रहा अपना मान भूल, देखा-देखी भेडो का सा आचरण अपना रहा था)— सिहत्व जागृत हो जाता है ।"

पडितजी का यह कथन सहज ही सोई हुई शक्ति को जगाने एव हममें अपूर्व दृढता (आत्म-बल) उत्पन्न करने में अत्यन्त प्रेरणादायक है ।

परमात्मा की दृढता का स्मरण कर हमारे मे भी दृढता पनप आती है,चाहे परमात्मा कुछ भी सहायता न करें । इसलिए हे भव्य आत्माओ ! परमात्मा के गुणो का स्मरण करना हमारे लिए महान् हितकारी है ।

सम्भवनाथ स्वामी के स्तवन मे पडितजी ने अत्यन्त हृदय-स्पर्शी भाव व्यक्त किये हैं—

जन्म कृतारथ तेहनो रे, दिवस सफल पण तास । जिनवर०॥
जगत शरण जिन चरणने रे, वदे धरीय उल्लास ॥जिनवर०॥
जिनवर पूजोनी, पूजो-पूजो रे भविक जन—

जन्म उसी का धन्य है और वही दिन उसके लिए हितकारी है जिसने ससार के सर्व प्राणियों को शरण देनेवाले परम उपकारी परमात्मा के चरणो में बडी प्रसन्नता के साथ भक्ति-पूर्वक नमस्कार किया है ।

साधारण जीवो मे ऐसा भावपूर्ण नमस्कार तभी उदय मे आता है जब वे पदार्थों से परमात्मा का बहुमान करने का व्यवहार अपना कर उसमें पूर्ण रुचि लेते हैं । इसलिए हे भवि प्राणियो ! परमात्मा का पूजन बडे ठाठ-बाट से अवश्य करना ।

पद्म-प्रभु स्वामी के स्तवन में पडितजी ने परम स्तुत्य भाव व्यक्त किये है-

बीजे वृक्ष अनन्तता रे लाल, पसरे भू जल योग रे ॥वालेसर०॥
तिम मुझ आतम संपदा रे लाल, प्रगटे प्रभु सयोग रे ॥वालेसर०॥
तुझ दरिसण मुझ वाल होरे लाल—

बीज मे वृक्ष की सम्पूर्ण सत्ता पूर्णरूप से विद्यमान है, पर बिना थल और जल के सयोग के वह अपने आप को वृक्ष-रूप मे पल्लवित नही कर सकता। उसी प्रकार चाहे आत्मा मे अनन्त गुण विद्यमान है पर विना प्रभु की उपासना और भक्ति के योग के, वे विकास को प्राप्त नही हो सकते। इसलिए हे परमात्मन्! एक मात्र आपके अवलम्ब ही से कार्य सिद्धि सभव है।

संरक्षण विण नाथ छो, द्रव्य बिना धनवन्त हो। जिनजी० ॥
कर्ता पद किरिया बिना, सन्त अजेय अनन्त हो ॥ जिनजी० ॥
श्री सुपास आनन्द में—

हे परमात्मन्! हम जानते है कि आप हमारी रक्षा नही करते फिर भी हम आपको अपना नाथ मानते हैं। आपके पास चाहे द्रव्य (धन) न हो फिर भी आप आत्मलक्ष्मी के महान् धणी है। आप चाहे कुछ भी न करे पर आपके अवलम्ब से जो हमारा हित हो जाता है, हम तो ऐसा ही मानते है कि आप ही हमारे इस उपकार के कर्ता है। हे स्वामी! आप अक्षय परम पद को प्राप्त करने वाले महान् योद्धा है। अहा! आप तो बडे आनन्द मे विराज रहे है।

श्री सुविधिनाथ स्वामी के स्तवन के प्रत्येक चरण मे पडितजी ने ऐसा अनूठा रस भरा है कि उसका पान करते-करते तृप्ति ही नही होती—

मोहादिकनी घूमि, अनादिनी उतरे हो लाल ॥ अनादिनी० ॥
अमल अखण्ड अलिप्त, स्वभावज साभरे हो लाल ॥ स्वभावज०॥
तत्व रमण शुचि ध्यान, भणी जे आदरे हो लाल ॥ भणी० ॥
ते समता रस धाम, स्वामी मुद्रा वरे हो लाल ॥ स्वामी० ॥
दीठो सुविधि जिणन्द—

हे देवाधिदेव! जो आपकी समता रस से परिपूर्ण मुद्रा को यथोचित अपना लेता है, पहचान लेता है, अनादि काल से पीछे पडा उसका 'मोह' का नशा हवा हो जाता है एव उसके स्वभाव मे शुद्धता व्याप्त हो जाती है। उसको सही तत्व और ध्यान आदि का बोध हो जाता है। अन्ततोगत्वा वह आप जैसे ही परमपद को प्राप्त कर लेता है। आगे चल कर पडित जी लिखते हैं—

हवे, सम्पूर्ण सिद्धि तणी, शी वार छै हो लाल ॥तणी० ॥
देवचन्द्र जिनराज, जगत आधार छै हो लाल ॥ जगत० ॥
दीठो सुविधि जिणन्द—

हे दीनानाथ ! जब आप जैसे परम पुरुष का हमे आधार मिल गया है तब यह शत-प्रतिशत निश्चय हो गया है कि हमारी पूर्ण सफलता प्राप्ति मे अब विलम्ब का कोई कारण नही है यानी हमे अति शीघ्र सर्व सिद्धियो की प्राप्ति निश्चित रूपेण हो जायेगी । देवचन्द्रजी महाराज फरमाते हैं—"हे जिनराज भगवन् ! ससार के सर्वप्राणियो के लिए आप परोक्ष रूप मे परम सहायक हैं ।

वासुपूज्य स्वामी के स्तवन मे तो पडितजी ने हृदय खोल कर रख दिया है । इससे अधिक और क्या स्पष्ट हो सकता है ? ऐसे सार गर्भित भावो के लिए हम पडितजी को कोटि-कोटि नमन करते हैं कि जिनकी कृपा से हमे भी सही तत्व का अल्पाश समझने में एव जिनेश्वर-भगवान की शुद्ध भक्ति मे, यत् किंचित् प्रवृत्त होने में बडी सहायता मिली है । वे फरमाते हैं—

अतिशय महिमारे अति उपगारता रे, निर्मल प्रभु गुण राग ।
सुरमणि, सुरघट, सुरतरु तुच्छ तेरे, जिनरागी महाभाग ॥ पूजना० ॥
पूजना तो कीजे रे बारमा जिनतणी रे—

हे परमात्मन् ! आप ससार के प्राणियो का अत्यन्त उपकार करने वाले हैं । आपकी महिमा अपार है । उसका वर्णन नही किया जा सकता । जिस प्राणी ने आपके निर्मल गुणो का रस-पान कर लिया है, उनमे आनन्द मग्न हो गया है उसके लिए तो सुरमणि, सुरघट और सुरतरु भी कुछ नही रहे । आपके गुणो की महानता के सामने उसके लिए ये सब गौण हो गये है । वस्तुत. जिसकी आपके गुणो में रुचि हो गई है वही महा भाग्यशाली है अर्थात् सौभाग्य से ही किसी प्राणी की आपके गुणो में रुचि बनती है ।

पडितजी के स्तवनो में कही भी दूसरो की निन्दा, कटाक्ष, दीनता, व्यर्थ का फैलाव, सकीर्णता आदि खटकने वाला कोई अश ही नही है । केवल परम पुरुषो के गुणो का अनुमोदन एव प्रशसा करते हुए अपनी कमजोरी को मिटाने एव अपने को ऊँचा उठाने का एक शुद्ध प्रयत्न मात्र है ।

आप फरमाते है—"यह पूजा इत्यादि का व्यवहार परमात्मा के लिए नही है अपितु यह तो हमारी आत्मा की पूजा है। अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिए, अपनी ही भलाई के लिए ये सर्व व्यवहार हम अपनाते हैं। 'परमात्मा की पूजा'—यह तो एक बहाना मात्र है।"

आप अकर्त्ता सेवाथी हुवे रे, सेवक पूरण सिद्धि।
निज धन न दिए पण आश्रित लहे रे, अक्षय अक्षर ऋद्धि ॥पूजना०॥
पूजना तो कीजे रे बारमा जिनतणो रे—

चाहे आप कुछ भी न करे पर आपकी सेवा मे सेवक अपनी इच्छित सम्पूर्ण सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। आप अपनी सपदा मे से कुछ भी नही देते यह बिल्कुल यथार्थ है पर जो अपने मन से ही आपकी शरण ग्रहण कर लेता है वह निश्चय मोक्ष-सुख प्राप्त कर लेता है। इसलिए हे भवि प्राणियो! दिल खोल कर परमात्मा की पूजा करो।

जिनवर पूजा रे ते निज पूजना रे, प्रगटे अनन्य शक्ति।
परमानद विलासी अनुभवे रे, देवचन्द्र पद व्यक्ति ॥पूजना०॥
पूजना तो कीजे रे बारमा जिन तणो रे—

हे ससारी प्राणियो! जिनराज भगवान की जो हम पूजा करते है इससे उनको कोई लाभ नहीं पहुँचता कारण वे तो पूर्णता को पहले ही प्राप्त कर चुके है। अब इस व्यवहार से जो कुछ लाभ मिलने वाला है वह हमे ही मिलेगा। इसलिए भगवान की पूजा तो एक बहाना मात्र है। असल मे यह पूजा तो हमारी है यानी हम ही लाभान्वित होते है। इससे सर्व प्रकार के गुण हममे प्रगट हो जाते है। अनुभव के आधार से यह कहा जा सकता है कि एकाग्रता से पूजन करने वाले व्यक्ति, 'परमानन्द' को—परमात्मा के समान पद को—प्राप्त कर लेते है।

धन्य है पडितजी आपके वाणी-विलास को। मन तृप्त ही नही होता। वस्तुत. महाराज के एक-एक पद में रस-सागर लहरा रहा है। पार्श्वनाथ स्वामी के स्तवन में आप फरमाते हैं—

उपशम रस भरी सर्वजन शकरी, मूर्ति जिनराजनी आज भेंटी।
कारणे कार्य निष्पत्ति श्रद्धान छै, तेणे भव भ्रमण नी भीड मेटी ॥सहज०॥
सहज गुण आगरो, स्वामी सुख सागरो—

क्षमा और शान्ति रस मे परिपूर्ण सर्व प्राणियो को अत्यन्त प्रिय, हितकारी ऐसी जिनराज भगवान की मूर्ति के दर्शन, नमनादि करके आज मेरा मनुष्य-भव कृतार्थ हो गया और ससार-भ्रमण का जो चक्र चालू है वह अब निश्चय रुक जायेगा। यह सत्य है कि कारण की उपलब्धि होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। हे नाथ! आप जैसे परम गुणी प्रभु के गुण-ग्राम करने का कारण मिल जाने से सेवक के लिए अब क्या कमी रह सकती है।

महावीर स्वामी के स्तवन में आप फरमाते है—

रागद्वेष भर्यो, मोह वैरी नड्यो, लोकनी रीतमा, घणु ए रातो।
क्रोधवश धमधम्यो, शुद्ध गुण नवि रम्यो, भम्यो भव महे हुं, विषय मातो ॥ तार०॥
तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी—

हे त्रिभुवन स्वामी! जीव में अनन्त राग-द्वेष भरा पडा है। यह वैरी 'मोह' पीछा ही नही छोडता। ससार बढने के अन्यान्य कार्यों में तो बडी रुचि लेता है। क्रोध मे भरा कापता रहता है और विषय-सुखो में लवलीन है। आपके शुद्ध गुणो में रुचि ही नही लेता। ये सर्व लक्षण भव-भ्रमण के ही है। यह मन की कमजोरी आपके सिवाय किसके सामने प्रगट की जाय? कृपा कर, अब आप ही उद्धार कर सकते हैं। हे भगवन्त! अब तो दास को उबारिये।

विहरमान-जिन-वीसी के बारहवे श्री चन्द्रानन-जिन स्तवन में समाज की कमजोरी का सही चित्र अकित करते हुए अत्यन्त सरल स्वभाव और उपकार भाव से आप फरमाते हैं—

गच्छ कदाग्रह साचवे रे, माने धर्म प्रसिद्ध।
आत्मगुण अकषायता रे, धर्म न जाणे शुद्ध रे ॥चद्रा०॥
चन्द्रानन-जिन सांभलीए अरदास रे—

स्वार्थी लोगों के सम्बन्ध में क्या कहा जाय ? अग्रगण्य बने हुए वे लडाई-झगडो को प्रोत्साहन देते रहते हैं और जिधर प्रसिद्धि देखते हैं उधर ही शीघ्र झुक जाते हैं। अपने आप को उसी सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति शुद्ध धर्म के मर्म को वस्तुत समझ ही नही पाये है। आत्मा का मुख्य गुण तो उसमे किसी भी प्रकार के कषाय का उत्पन्न न होना है। इसके विपरीत कोई भी आचरण 'धर्म' नही माना जा सकता यदि कोई कहता है तो वह धोखा है, मानने योग्य नही है।

तत्व रसिक जन थोड़ला रे, बहुलो जन सम्वाद।
जाणो छो जिनराजजी रे, सघला एह विवाद रे ॥चन्द्रा०॥
चन्द्रानन-जिन, सांभलिए अरदास रे–

सही हित की बात बहुत ही कम व्यक्तियो को रुचिकर लगती है क्योकि उसमे मन को काबू में रखना होता है। सहज विषय-प्रेमी होने के कारण लोगो का एक बडा समूह व्यर्थ के क्रिया-कलापो मे ही अधिक रुचि लिया करता है। हे जिन-राज ! सर्वज्ञ होने के नाते इन समस्त वाद-विवादो के सम्बन्ध में आप जानते ही हैं।

नाथ चरन वन्दन तणो रे, मन मां घणो उमंग।
पुण्य बिना किम पामिये रे, प्रभु सेवन नो रंगरे ॥चन्द्रा०॥
चन्द्रानन-जिन, सांभलिए अरदास रे—

हे जिनराज ! आपके चरणो में वन्दन करने के लिए मन मे बडा उल्लास उत्पन्न हुआ है। मन होता है तुरन्त आकर आपके चरणो मे अपना मस्तक रख दूं पर बिना प्रबल पुण्य के आपकी सेवा का सयोग कैसे प्राप्त हो सकता है? यह सब तो महान् पुण्योदय से ही प्राप्त होता है।

परम योगीराज दादा आनन्दघनजी के स्तवनो से भी ऐसा ही अनूठा रस अन्तःस्तल तक पहुँच कर आलोड़ित करने वाला है। महाराज, अभिनन्दन स्वामी के स्तवन में फरमाते हैं—

घाती डुंगर आडा अति घणा, तुझ दरिशण जगनाथ ।
धीठाई करी मारग संचरुं, सेंगु कोई न साथ ॥अभि० ॥
अभिनन्दन जिन दरिशन तरसीये—

हे भगवन् ! आपके दर्शन को प्राप्त करना मेरे लिए बड़ा ही कठिन है कारण संसार की विषय-वासनाएँ दुर्गम पर्वत-माला की तरह मेरा रास्ता रोके खड़ी है। फिर भी ऐसी विकट स्थिति में इतने चंचल मन को जबरदस्ती ढकेल रहा हूँ और कह रहा हूँ कि तू प्रभु का दर्शन कर, उस शान्त स्वरूप को पहचान ! कार्य बड़ा दुष्कर है। अशक्त हूँ, अकेला हूँ। हे वीतराग प्रभु ! मेरी कोई सहायता करने वाला भी नहीं है। कैसे सफलता प्राप्त होगी, आप ही जानें ?

चन्द्र-प्रभ स्वामी के स्तवन में आप फरमाते हैं—

वनस्पति अति घण दिहा, दीठो नहीं देदार ॥ सखी० ॥
विति चउरिंदी जल लिका, गत सन्नि पण धार ॥ सखी० ॥
सखी मुने देखणदे, चन्द्रप्रभ मुख चंद —

हे प्रभु ! कितनी ही योनियों में भटक चुका—वनस्पति-काय में कहिये या अप-काय में, अनन्त काल तक भ्रमण कर चुका हूँ। सन्नि-असन्नि-पन में समय काट चुका हूँ परन्तु दर्शन का ऐसा सुयोग कहीं नहीं प्राप्त हुआ। आगे भी ऐसा सुयोग मिलना शायद संभव न हो। यह सुयोग तो वर्तमान में ही मिला है। इसलिए हे चेतन ! अब तो यह दर्शन जी-भर कर लेना चाहिए।

विमलनाथ स्वामी की स्तुति में महाराज ने जो कुछ कहा है, उसमें अवगाहन कर हृदय पुलकित हो उठता है—

अमिय भरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय।
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय ॥ विमल० ॥
विमल जिन, दीठां लोयण आज —

निर्माणकर्त्ता ने जिनराज भगवान की प्रतिमा कितनी खूबी और सुन्दरता से बनाई है, क्या अमृत-रस उसमें भरा है कि उसकी समानता के लिए कोई उपमा

ही नही मिलती। ऐसी शान्त अमृत-रस से सराबोर मूर्ति जब देखते है तो तृप्ति ही नही होती। मन करता है देखते ही रहे! देखते ही रहे!! हे विमल-नाथ स्वामी! आज आपके स्वरूप को समझ कर बडी प्रसन्नता हुई है।

धर्मनाथ स्वामी की स्तुति का अर्थ-गाम्भीर्य तो अद्वितीय ही है—

परम निधान प्रगट मुख आगले, जगत् उल्लंघी हो जाय।
ज्योति बिना जुओ जगदीश नी, अंधो-अंध पलाय ॥जिने०॥
धर्म जिनेसर गाऊं रंग शु—

ऐसे परम गुणो के सागर परमात्मा की मूर्ति के सामने से प्राणी आते-जाते है, दर्शनादि भी करते है पर वे केवल उसे ऊपर-ऊपर ही से देखते है। परमात्मा के उस शान्त स्वरूप को, अच्छा अभ्यास न होने के कारण, अभी वे समझ नही पाये है। इसलिए जब तक सही समझ नही आती यह तो अंधो की सी एक दौडा-दौडी ही है। जिनेश्वर भगवान को तो भाव धर कर पूजने ही से सही आनन्द मिलता है।

कुथुनाथ स्वामी की स्तुति हमारे रोम-रोम मे उल्लास और चैतन्य उत्पन्न करने मे पूर्णतया सक्षम है—

मुगति तणा अभिलाषी तपीया, ज्ञानने ध्यान अभ्यासे।
वयरीडुं कांई एहवुं चिते, नाखे अवले पासे ॥हो कुंथु०॥
कुंथुजिन मनडुं किम ही न बाजे—

हे जिनेश्वर! यह मन किसी भी प्रकार वश में आता दिखाई नही देता। जितना ही इसको वश मे करने की चेष्टा करता हूँ उतना ही यह दूर-दूर भागता है। मुक्ति की अभिलाषा रखने वाला यह जीव ऊपर से तो ज्ञान और ध्यान (शुद्ध-क्रिया) मे तल्लीन दिखाई देता है पर भीतर से दूसरे प्रकार का चिन्तन (अशुद्ध) करने के कारण फल उल्टा ही मिलता है। उसका मोक्ष की तरफ बढना तो दूर रहा उल्टे नरक की तरफ वह चला जाता है।

हे स्वामी ! यह 'मन' वश मे आना वडा ही कठिन है ।

मैं जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले ।
बीजी वातें समरथ छै नर, एहने कोई न झेले ॥ हो० कुंथु० ॥
कुंथुजिन मनडुं किम ही न वाजे —

चाहे मन जड ही क्यो न हो, यह मर्द कहे जाने वाले पुरुषो पर भी अकुश जमाये रहता है। मनुष्य सव प्रकार विजय प्राप्त कर सकता है पर इस चचल मन पर तो कोई एक आध ही विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। हे देवाधिदेव ! इस चंचल मन के विषय में अधिक क्या कहा जाय ? आपने इसको वश में किया इसलिए आप धन्य हैं !

इसी प्रकार उपाध्याय यशोविजयजी महाराज के स्तवनो में भी वडे भावपूर्ण पद आये हैं। वस्तुत जिनराज भगवान के गुणग्राम ही ऐसे हैं जो हर विषय को हमारे लिए अत्यन्त प्रिय वना देते है।

आप प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव स्वामी के स्तवन में फरमाते है—

इन्द्र, चन्द्र, रवि, गिरी तणा; गुण लही घडियुं अंग लालरे ।
भाग्य किहां थकी आवियुं; अचरिज एह उतंग लाल रे ॥जगजीवन०॥
जग जीवन जग वाल हो—

माना परमात्मा के शरीर की रचना के लिए इन्द्र, चन्द्र, सूर्य और पर्वत आदि से 'शक्ति और विशेषता' विधि ने प्राप्त कर ली होगी परन्तु तीर्थ कर भगवान का इतना वडा भाग्य कहाँ से लाया गया ? यह आज भी हमारे लिए आश्चर्य का विषय वना हुआ है। हे ससार का महान् उपकार करने वाले जिनराज ! आप हमें अत्यन्त वाले (प्यारे) लगते हैं।

श्री सुमतिनाथ स्वामी के स्तवन में महाराज फरमाते है—

सज्जन शुं जे प्रीतड़ीजी, छानी ते न रखाय ।
परिमल कस्तुरी तणोजी, मही मांहे महकाय ॥सोभागी०॥
सोभागी जिन शुं लाग्यो अविहड़ रंग—

परमात्मा से प्रीति करना गुणो को ही प्राप्त करना है और जब गुणो की प्राप्ति हो जाती है तो उसको छुपाकर रखना कैसे सभव हो सकता है कारण उसका प्रभाव तो स्वत ही दूसरो पर पड़ जाता है। जैसे–कस्तूरी यदि छिपाकर रखे तब भी उसकी प्रखर महक से अन्य को पता लग जाता है कि कस्तूरी महक रही है। जिनका अन्त करण परमात्मा में लीन हो जाता है उसके गुण स्वत. प्रगट होने लगते है।

श्री सुविधिनाथ स्वामी के स्तवन मे उपाध्यायजी महाराज भक्तिपूर्वक फरमाते है—

राजहंस तू मान सरोवर, और असूचि रुचि काग।
विषय भुजंगम् गरूड़ तू कहिये, और विषय विषनाग ॥मैं०॥
मैं कोनो नहीं, तुम बिन और सुं राग—

हे प्रभु! आप तो मान-सरोवर के स्वच्छ जल (शुद्ध-गुण) मे विचरण कर आनन्द लेने वाले हस के समान हैं और दूसरे देव अवगुणो से प्रेम करने वाले कौवो के समान है। आप विषयो पर विजय प्राप्त करने वाले गरुड के समान महान् बली है और अन्यान्य देव विषयो में लीन जहरीले सर्प के समान हानिकर हैं। ऐसी स्थिति मे आप जैसे शुद्ध देव को छोड़कर और किसी अन्य की उपासना की इच्छा ही कैसे की जा सकती है? भवि-प्राणि तो आपही की शरण ग्रहण करते है और विश्वास के साथ परम-सुख का वरण करते है।

भगवान महावीर स्वामी के स्तवन मे भी महामुनि ने ऐसे ही नीर-क्षीर का विवेक पूर्वक परिचय पद-पद में दिया है—

तुम गुण गण गंगा जले, हुँ झीलीने निर्मल थाऊँ रे।
अवर न धंधो आदरूं, निश-दिन तोरा गुण गाऊँ रे ॥गिरु०॥
गिरुआ रे गुण तुम तणा श्री वर्द्धमान जिनराया रे—

हे परमात्मन्! आपके गुण रूपी गंगाजल मे स्नान करके अर्थात् आपके गुणो को स्मरण करके मैं अत्यन्त पवित्र हो जाता हूँ, मेरा मन बडा निर्मल बन जाता है। ठीक वैसे ही–जैसे गगा मे स्नान करके, मल को धोकर लोग निर्मल बन जाते हैं। मुझे और कोई काम नहीं करना है। केवल रात और दिन आप ही के गुण गाता रहूँ, यही मेरी प्रवल भावना है, अन्तिम इच्छा है।

●